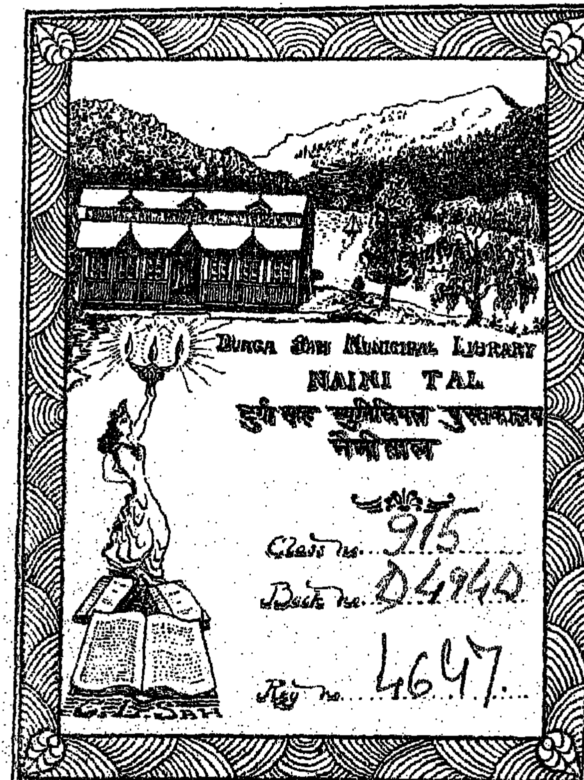

DURGA SAH MUNICIPAL LIBRARY
NAINI TAL
दुर्गा साह म्युनिसिपल पुस्तकालय
नैनीताल
Class No. 915
Book No. D494D
Reg No. 4647.

देश-विदेश

रामधारीसिंह 'दिनकर'

प्रकाशक
उदयाचल
आर्यकुमार रोड, पटना - ४

मूल्य दो रुपये

मुद्रक : ज्ञानेन्द्र शर्मा
जनवाणी प्रिण्टर्स एण्ड पब्लिशर्स प्राइवेट लि०,
३६, वाराणसी घोष स्ट्रीट, कलकत्ता - ७

विषय-सूची

१. सौराष्ट्र-भ्रमण .. १

(१) मिट्टी और मनुष्य

(२) भावनगर

(३) राजकोट से द्वारका

(४) द्वारकापुरी

(५) पाटन की ओर

(६) फिर राजकोट

२. काश्मीर की सैर .. २२

३. काव्य-भूमि काश्मीर .. ३१

४. मेरी यूरोप-यात्रा .. ४२

(१) बंबई से लन्दन

(२) लन्दन से वारसा

(३) वारसा की डायरी

(४) क्रैकोव और पोज़न

५. अन्तर्राष्ट्रीय कवि-सम्मेलन .. ८६

६. पोलैंड की भाषा और साहित्य .. ९८

७. पोलैंड की अर्थ-व्यवस्था के कुछ मनोरंजक पहलू .. १०४

८. यूरोप कैसा लगा ? .. १०९

९. अरब के वर्तमान बृहस्पति डाक्टर तहा हुसैन .. १२१

सौराष्ट्र-भ्रमण

१. मिट्टी और मनुष्य

पृथ्वी की बनावट और मिट्टी के रूप-रंग के हिसाब से सौराष्ट्र राजस्थान और मालवे की जाति का है। इतिहास में भी ये तीनों भू-भाग, प्रायः, एक ही समय चमके और फिर साथ ही अस्त भी हो गये। शिवाजी और महाराणा प्रताप को बाद दे दें, तो कह सकते हैं कि भारत की सामरिक वीरता इन्हीं तीन प्रदेशों में अन्तिम बार चमक कर शान्त हो गयी। विशेषतः, प्रभास और पाटण तो हिन्दू-सभ्यता के अस्तगामी सूर्य के चमकने के शिखर हैं। किन्तु, वीरता की जो भावना पहले समर-स्थली में चमकती थी, वह अब वाणिज्य में बदल गयी है। सौराष्ट्र भारत का एक ऐसा प्रान्त है, जिसके बहुत-से वासी अब अफरीका, मलाया, सिंगापुर और भारत-सागर के अनेक द्वीपों में व्यापार करते हैं। सौराष्ट्र में भारत से बाहर का धन काफी मात्रा में आता है। अतएव, यहाँ अच्छे मकानों की संख्या काफी बड़ी है, यद्यपि उसी अनुपात में यहाँ लोग नहीं रहते हैं। पोरबन्दर देखने में छोटे कलकत्ते के समान लगता है, किन्तु, आबादी उसकी कुल बीस हजार है।

सौराष्ट्र की दूसरी विशेषता यह है कि जब भारत के अन्य प्रान्त गाँवों से भरे हुए हैं, तब सौराष्ट्र, मुख्यतः, नगरों का

प्रान्त है। इस प्रान्त की पूरी जनसंख्या का कोई एक-तिहाई अंश नगरों में रहता है और ये नगर बड़े ही सुन्दर, स्वच्छ और समृद्ध हैं। कारण यह है कि सारा का सारा सौराष्ट्र देशी राजवाड़ों से पटा हुआ था, जिनमें से कोई पचास राज्य तो ऐसे थे जो, सचमुच ही, राज्य कहे जा सकते थे। इन राजाओं में से प्रत्येक की यह इच्छा रहती थी कि कम-से-कम, उसकी राजधानी खूब ठाटदार रहे। इसलिए, सारे राज्य से निचोड़ा जाकर जो धन उनके खजानों में आता था, उसका काफी बड़ा हिस्सा वे अपनी राजधानियों पर खर्च करते थे।

सौराष्ट्र के नगरों में दस्तकारी और गृह-शिल्प का भी अच्छा प्रचार है और इसका कारण भी यही है कि यहाँ के राजे अपनी राजधानियों में भाँति-भाँति के शिल्पों को प्रश्रय दिया करते थे। इसके सिवा, पंडित और कवि, चारण और वन्दी-जन, गवैये और कलाकार, चित्रकार और मूर्त्तिकार भी सौराष्ट्र में बहुत काफी हैं, क्योंकि इनके ऊपर राजाओं की विशेष कृपा रहती थी। कला की सेवा के लिए निश्चिन्तता और अवकाश चाहिए और राजाओं की कृपा से अवकाश कलाकारों को खूब रहता था, जिससे सौराष्ट्र में कला की परंपरा अच्छे परिमाण में अब तक विद्यमान है।

सामाजिक प्रवृत्तियों की दृष्टि से भी सौराष्ट्र भारत का उल्लेखनीय अंग है। प्रत्येक नगर में वहाँ ऐसी अनेक संस्थाएँ हैं जो नारी-शिक्षा का काम करती हैं, नारियों में शिल्प का प्रचार करती हैं, बालकों की शिक्षा, व्यायाम, खेल-कूद, मनोरंजन

आदि का प्रबन्ध करती हैं अथवा जनता में राष्ट्रभाषा का प्रचार कर रही हैं। ये प्रवृत्तियाँ भी कुछ तो राजवाड़ों के प्रोत्साहन से बढ़ीं और कुछ गाँधीजी के समय में। एक अन्य कारण यह भी दीखता है कि सौराष्ट्र में देश से बाहर जाकर धन कमानेवाले लोग बहुत हैं। ये लोग अपनी जन्मभूमि में तो कम रह पाते हैं, किन्तु, यहाँ की संस्थाओं की सहायता वे सानन्द करते हैं।

सौराष्ट्र की ग्रामीण जनता है तो कुछ पिछड़ी हुई, किन्तु, वह बिहार तथा उड़िस्सा-जैसे प्रान्तों की जनता की तुलना में अधिक सुखी और निश्चिन्त है। यहाँ के गाँव के लोगों को रूखा-सूखा भोजन दोनों वक्त मिल जाता है और उनके बदन पर भी चिथड़े नहीं झूलते, साबित कपड़े होते हैं। एक विचित्र बात यह है कि सौराष्ट्र के नगरों में रहनेवाले लोगों की पोशाक तो वही है, जो भारत के अन्य नगरों में देखने को मिलती है; किन्तु, यहाँ के गाँवों के लोग, प्रायः, चुस्त पैजामा (जो घुटनों के ऊपर बहुत ढीला होता है) और कमर से ऊपर ही खत्म हो जानेवाली चुस्त मिरजई पहनते हैं, जिसका अधोभाग चुन्नरदार होने के कारण झालरनुमा दिखायी देता है। लड़के और जवान लोग भी हाथ में चाँदी के कड़े और कानों में सोने के फूल पहने होते हैं। ये फूल कान की लटकन में नहीं, बल्कि, कर्णरन्ध्र के पास कान के मध्यभाग में छेद करके पहने जाते हैं। हाँ, औरतों की पोशाक वही है, जो मालवे या राजस्थान में प्रचलित है। भारत के अन्य भागों में किसान, प्रायः,

नंगे बदन काम करते हैं, किन्तु, सौराष्ट्र में आप उन्हें नंगे कभी नहीं देखेंगे। वे हल चला रहे हों अथवा बैलगाड़ी हाँक रहे हों, खलिहान में अनाज ओसा रहे हों या दाने मसल रहे हों, हर समय उनका पैजामा, उनकी मिरजई और उनकी पगड़ी या टोपी बदन पर मौजूद मिलेगी। ये किसान भारत के सबसे अधिक सीधे किसानों में से हैं, बल्कि, देशी राजवाड़ों का भय अभी उनके भीतर से नहीं निकला है और सरकारी आज्ञा की अवहेलना करने का साहस तो वे कर ही नहीं सकते। सौराष्ट्र में अभी श्री ढेबर भाई का राज्य है और ढेबर भाई सेवा-भावना और जनाराधना की दृष्टि से विनोबाजी के समगोत्री होंगे, इसलिए, सौराष्ट्र की जनता के सामने सरकार के खिलाफ सोचने का अभी कोई प्रसंग नहीं है। किन्तु, देशी राज्यों की जनता के भीतर आलोचना और प्रतिरोध की शक्ति का विकास तो होना ही चाहिए, अन्यथा प्रजातंत्र का स्वाद उसे कैसे मिलेगा ?

२. भावनगर

सौराष्ट्र की मेरी यात्रा भावनगर से आरम्भ हुई। भावनगर में राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति का उत्सव चल रहा था, अतएव, सारा-का-सारा समय मुझे समिति की सभाओं में ही गुजार देना पड़ा। इस समारोह में गुजरात, सौराष्ट्र और कच्छ के प्रचारक पहली बार एकत्र हुए थे, अतएव, इन सभी प्रदेशों में राष्ट्रभाषा के लिए जो उद्योग चल रहा है, उसकी

पूरी झाँकी मुझे एक ही स्थान पर मिल गयी। प्रचारकों ने बड़े उत्साह के साथ यह निर्णय किया कि राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की ओर से पूज्य टंडनजी को एक थैली अर्पित की जाय।

राष्ट्रभाषा-प्रचार-सम्मेलन में कुछ सांस्कृतिक कार्यक्रम भी रखे गये थे। नाटक, प्रहसन, भावनृत्य और स्वरानुकृति (मिमिकरी), सब कुछ दिखाये गये, किन्तु, गरबा-नृत्य ने सबको मात कर दिया। इस नृत्य की विशेषता इसकी मर्यादा और शील हैं, अतएव, नृत्य के समय किसी को भी झेंपने की जरूरत नहीं होती। यह नृत्य, मुख्यतः, गृहस्थ-गृह की ललनाओं का नृत्य है, यद्यपि, इसमें पुरुष भी साथ हो लेते हैं। मैंने इसके दो-तीन प्रकार देखे, जिनमें से एक में कुछ युवक भी गोल में साथ हो गये थे। विरावल में श्री पृथ्वीराज ने बताया कि उन्होंने जो गरबा-नृत्य देखा था उसमें देहात के बूढ़े लोग भी नाच रहे थे और उनके नृत्य में ओज का पूरा उभार था। राजकोट में एक सज्जन ने बताया कि सौराष्ट्र में गरबा-नृत्य भगवान श्रीकृष्ण की पौत्र-वधू ऊषा—ने चलाया था। शार्ङ्गदेव-कृत 'संगीत-रत्नाकर' के अनिरुद्ध अध्याय में एक श्लोक आता है,

पार्वती त्वनुशास्तिस्म लास्यं बाणात्मजां उषाम्
तया द्वारवती गोप्यः ताभिः सौराष्ट्रयोषितः।

अर्थात्—लास्य की शिक्षा पार्वती ने बाणासुर की बेटी ऊषा को दी, ऊषा ने द्वारकापुरी की गोपियों को और गोपियों से यह नृत्य सौराष्ट्र की ललनाओं में फैल गया।

यह भी सुना कि बाणासुर का राज्य कहीं अरब में था और उसकी राजधानी शोणितपुर में थी। अब यह स्थान शोण कहलाता है और अरब से कोई ढाई सौ मील पूर्वोत्तर की ओर वह अवस्थित है। ऐसा हुआ कि भगवान कृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध समुद्री डाकुओं के द्वारा हरण कर लिये गये और चूँकि वे अत्यन्त सुन्दर थे, इसलिए, शोणितपुर के राजा ने उन्हें दास के रूप में खरीद लिया। पीछे राजा की बेटी ऊषा इस दास पर प्राणपन से मोहित हो गयी। यह संवाद जब भगवान कृष्ण को मिला, तब उन्होंने जलसेना खड़ी करके बाणासुर पर चढ़ाई की और ऊषा तथा अनिरुद्ध को ब्याह कर द्वारका ले आये। यह भी कहा जाता है कि अनिरुद्ध की और भी पत्नियाँ थीं। इसलिए, बाणासुर ने भगवान कृष्ण से यह वचन ले लिया कि ऊषा के लिए वे राज्य का कोई खंड अलग कर देंगे। भगवान कृष्ण ने वैसा ही किया और जो राज्य ऊषा के लिए अलग किया गया, उसी की राजधानी ओखा नाम से अब तक वर्त्तमान है। ओखा द्वारका से उत्तर सौराष्ट्र के छोर पर पड़ता है। ओखा के बाद समुद्र की एक पतली खाड़ी है और उसके बाद कच्छ का प्रदेश। पहले यह सारा प्रदेश ऊषा-मंडल कहलाता था, जिसके केन्द्र में द्वारका पड़ती है।

भावनगर में श्री हरभाई त्रिवेदी रहते हैं, जिन्होंने बाल-मनोविज्ञान का अच्छा अध्ययन किया है और उस विषय पर कुछ पुस्तकें भी लिखी हैं। यहाँ कुछ अच्छे गवैये और चित्रकार

भी हैं। यह नगर मुझे संस्कृति के सुन्दर पीठ के समान दिखायी दिया। लोग भावुक और साहित्य-रसिक हैं। समाज-सेवा और विद्या-सेवा की भी इस नगर में अनेक प्रवृत्तियाँ चलती हैं।

भावनगर में ही भारत-सरकार का लवण-शोध-पीठ (Salt Research Institute) है, जिसके आचार्य डाक्टर माता प्रसाद ने हम लोगों को मिश्री की डली के समान स्वच्छ नमक की डलियाँ दिखलायीं। किन्तु, इस जिज्ञासा का ठीक समाधान नहीं मिला कि जब इतना स्वच्छ नमक देश में ही तैयार होने लगा है, तब बंबई का मटमैला नमक बाजारों में क्यों बिक रहा है। विशेष करके आश्चर्य मुझे इसलिए हुआ कि डा० माता प्रसाद से हमें यह मालूम हुआ कि यह उजला नमक मटमैले नमक की अपेक्षा सस्ता भी है।

भावनगर में रहा तो मैं तीन दिन, किन्तु, नगर को ठीक से नहीं देख सका। सारा समय सभाओं और गोष्ठियों में निकल गया। भावनगर के पास ही (२० मील) पालीतान की पहाड़ी है, जिसपर जैन-मन्दिरों का समूह है। यह स्थान जैनों के लिए बड़ा ही पवित्र है। किन्तु, मैं वहाँ भी नहीं जा सका। निदान, नगर में फैले हुए कार्यक्रमों को किसी तरह समेट कर श्री जेठालाल जोशी, श्री रामेश्वर दयाल दुबे और पूना रा० भा० प्र० स० के कार्यकर्त्ता श्री शान्ति भाई के साथ मैं २५ मई की रात में राजकोट के लिए रवाना हो गया।

३. राजकोट से द्वारका

राजकोट में ही बापू ने दरबार वीरबाला के विरुद्ध सत्याग्रह किया था, यह बात मुझे बार-बार याद आने लगी और मित्रों को मैंने श्री रामसिंहासन सहाय मधुर की वह कविता सुनायी, जिसे मधुरजी ने इस सत्याग्रह के समय लिखा था :—

ऊपर अम्बर रोता है, नीचे धरनी अकुलानी,
यह मकुट बेच दो राजा, यह महल बेच दो रानी ।

× × ×

उन बेकलियों के रथ पर, चढ़कर आयी है आँधी,
दरबार वीरबाला में रो पड़ा हमारा गाँधी ।

× × ×

इन कोटि-कोटि प्राणों में है एक आग तूफानी,
यह आग बुझाओ राजा, यह आग बुझाओ रानी ।

और

यह धरती धँस जायेगी, है दो दिन की मेहमानी,
इतिहासों के पन्नों पर, उड़ते हैं राजा-रानी ।

गाँधीजी के प्रबोध के लिए राजा और रानी ने मुकुट और महल तो नहीं बेचे, लेकिन,आँधी आने पर वे इतिहास के किनारे जरूर जा लगे। बल्कि, जूनागढ़ के नवाब साहब तो उड़कर पाकिस्तान पहुँच गये, जो इतिहास से भी ज्यादा दूर हो रहा है। नवाब साहब अगर भारत में रह गये होते, तो इतिहास, शायद, उन्हें सौराष्ट्र के प्रथम राजप्रमुख के रूप में याद करता।

२६ मई को राजकोट से हम लोग द्वारका के लिए रवाना हुए। रास्ते में जामनगर रुककर हमने थोड़ा-सा नगर-दर्शन

किया। जामनगर सुविख्यात जाम साहब की राजधानी है, जिन्हें प्रेमवश नगर-निवासी बापू कहा करते हैं। इस नगर में गृह-शिल्प का अच्छा प्रचार है। बटन तो इतने अच्छे बनते हैं कि बाहर से आनेवाले बटन भी उनके सामने मात हैं। किन्तु, कारखाने का मालिक बेचारा इस भय से इन पर 'मेड-इन-इंडिया' नहीं लिखता है कि देशी माल समझ कर देश के लोग इन्हें नहीं खरीदेंगे। यह भी हम भारतवासियों की स्वदेशी-प्रियता पर अच्छी फब्ती है।

जामनगर में देखने की सबसे विचित्र वस्तु सोलेरियम (Solarium) अथवा सूर्यप्रभा-मन्दिर है, जहाँ किरणों से रोगों का उपचार किया जाता है। अस्पताल भवन का ऊपरी हिस्सा हवाई जहाज के दो डैनों की तरह फैला हुआ है। नीचे सारा महल कील पर आधारित है और कील को यथाविधि घुमाते रहने से ऊपर के डैने भी घूमते जाते हैं, जिससे उनमें रहनेवाले रोगियों पर सूर्य की किरणें सीधी होकर पड़ती रहती हैं। श्वेत कुष्ठ, टयूबरक्लोसिस, टयूमर और एक्जिमा में इस उपचार से विशेष लाभ होता है। डाक्टरों ने हमें बताया कि इस प्रकार के सूर्यप्रभा-मन्दिर संसार में कुल तीन ही हैं, जिनमें से दो यूरोप में और एक भारतवर्ष में है। जामनगर में एक आयुर्वेदिक कालेज भी बना है, जो अत्यन्त भव्य और काफी विशाल है। आयुर्वेद पढ़ाने के लिए इतना बड़ा भवन देश में, शायद, और कहीं नहीं है।

जामनगर से हम लोग खंभालिया आये। खंभालिया भी परकोटों से घिरा हुआ ग्राम है, जो किसी-न-किसी राजा की राजधानी रहा होगा। यहाँ रा० भा० प्र० समिति का एक स्कूल चलता है और एक स्कूल का नाम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र विद्यालय भी है। खंभालिया में भारतेन्दु के नाम पर विद्यालय चलने का यह स्पष्ट अर्थ है कि भारत की जनता को राष्ट्रभाषा हिन्दी के लिए स्वाभाविक अनुराग है। इसी प्रकार, पूने में भी तुलसी-निकेतन नाम की एक संस्था कायम है। लोग भ्रमवश ही यह कह बैठते हैं कि हिन्दी अहिन्दी भाषियों पर लादी जा रही है। लादने-लदाने की कोई बात नहीं। देश ने स्वेच्छया हिन्दी को अंगीकार किया है। यह बात दूसरी है कि बैर-फूट की पूर्वजीय परंपरा कुछ विद्वानों के लोहू में जोर मारे और जनता को वे एकता की राह से भटका कर दूसरी ओर ले जायँ।

खंभालिया से हम लोग द्वारकापुरी की ओर चले। रास्ते में स्वाभाविक रूप से यह कल्पना उठने लगी कि यहीं कहीं यदुवंशियों की क्रीड़ास्थली रही होगी; यहीं कहीं अर्जुन द्वारका से स्त्रियों को लेकर आ रहे होंगे, जब उनपर दस्युओं ने वार किया और स्त्रियों को उनसे छीनकर वे ले भागे। खाण्डव-वन को भस्मसात् कर देनेवाले अर्जुन, कौरवों में से अनेक वीरों को अकेले ही पीछे की ओर हाँक देनेवाले अर्जुन, जिनके धनुष की टंकार से आकाश भर जाता था और शत्रुओं की सजी-सजायी सेनाओं की छाती हहर उठती थी, वे ही महात्मा

वीर कुछ दस्युओं के हाथ से अपनी रक्षा में आयी हुई स्त्रियों को नहीं बचा सके। क्या हो गया था उनके पौरुष को? कौन-सी शक्ति निकल गयी थी उनकी भुजा से? क्या, सचमुच ही, ताकत मनुष्य का साथ तभी तक देती है, जब तक भाग्य उसके साथ है? धनुष और बाण वे ही थे, पार्थ भी पहले ही वाले थे, किन्तु,

काबा लूटीं गोपियाँ,
वै अर्जुन वै बान।

४. द्वारकापुरी

द्वारका पहुँचकर रात भर हम लोगों ने विश्राम किया। प्रात:काल स्नान-ध्यान से निवृत्त होकर भगवान के दर्शन को गये। द्वारकाधीश के मन्दिर की विचित्रता यह है कि वह पश्चिम मुख है। मन्दिर के ऊपर कहीं-कहीं सपक्ष गजों और सपक्ष परियों तथा व्याघ्रों की मूर्त्तियाँ हैं, जिनकी रचना में यूनानी प्रभाव स्पष्ट दिखायी पड़ता है। मन्दिर के शिखर में सोपानवत् सात द्वार हैं। द्वारकाधीश की दाहिनी ओर बलरामजी का मन्दिर है, जिन्हें यहाँवाले त्रिकमजी कहते हैं।

कहते हैं, पहले यह मन्दिर सूर्य-मन्दिर था। बाद को चलकर इस मन्दिर में त्रिविक्रम की पूजा होने लगी। स्वर्गीय धर्मानन्द कौशाम्बी ने लिखा है कि सूर्य की पूजा भारत में बैबिलोन से आयी थी। सम्भव है, बैबिलोन से आया हुआ धर्म पहले यहीं तटों पर प्रचलित हुआ हो। पीछे चलकर यही पूजा

विष्णु की पूजा में बदल गयी। बात मुझे कुछ-कुछ मेल खाती-सी लगती है, क्योंकि ऋग्वेद में जिस विष्णु का उल्लेख है, वे भी सूर्य-वाचक देवता हैं। यही विष्णु नारद-पंचरात्र, वसुदेव-संकर्षण और सात्वत-धर्म के मिश्रण की प्रक्रिया में चतुर्भुज विष्णु हो गये।

द्वारकावासी एक विद्वान् (श्री जोशीजी) ने बताया कि इस मन्दिर की सेवा क्षत्रपों ने की थी और उनके बाद फिर गुप्त राजाओं ने। वर्त्तमान मन्दिर के बारे में उनका मत है कि यह मुसलमानों के आगमन से पहले का है। द्वारका में जो शंकराचार्य का शारदा-पीठ है, उसे शंकराचार्य द्वितीय ने स्थापित किया था। कहते हैं, गुजरात के किसी मुस्लिम शासक ने एक बार इस मन्दिर की भी दुर्दशा की थी और उसकी प्रतिमा को तोड़ डाला था। जब श्री वल्लभाचार्यजी यहाँ आये, तब उन्होंने मन्दिर को शून्य पाया। वर्त्तमान मूर्त्ति उन्हीं की पधरायी हुई है।

शारदा-पीठ में आजकल जो शंकराचार्य हैं, संयोग से, वे उस दिन पीठ में ही थे। उनकी आकृति सरल, सौम्य और प्रभावोत्पादक है। उनसे मिलकर हृदय गद्‌गद हो गया। उनका शुभ नाम अभिनव सच्चिदानन्द है और वे आनन्द की मूर्त्ति हैं।

द्वारका में गोमती नदी समुद्रसे मिलती है और यात्री इस संगम पर स्नान भी किया करते हैं। द्वारकाधीश के मन्दिर से दो मील अलग श्री रुक्मिणीजी का मन्दिर है।

गोपी-सरोवर तो द्वारका से काफी दूर है। कहते हैं, जब भगवान स्वर्ग सिधार गये, तब रुक्मिणीजी तो सती हो गयीं, किन्तु, गोपियाँ इसी सरोवर में आकर स्वर्गवासिनी हुईं। इसीलिए, सारी द्वारका की मिट्टी काली, किन्तु, इस सरोवर की मिट्टी गोरी है। इसी मिट्टी को भक्त गोपीचन्दन कहते हैं।

द्वारका से लौटते समय मन में यह भाव जागा कि भगवान को मथुरा से भगाकर द्वारका पहुँचाने का पाप जरासन्ध ने किया था, जो बिहार का ही राजा था। किन्तु, भगवान भी खूब भागे—ऐसा भागे कि एकदम देश के पश्चिमी छोर पर चले गये। स्पष्ट ही, अगर समुद्र नहीं मिल जाता, तो वे कुछ और पश्चिम जा सकते थे।

५. पाटन की ओर

द्वारका से लौटकर हम खंभालिया आये और उसी दम मोटर से पोरबन्दर के लिये रवाना हो गये। खंभालिया से पोरबन्दर कोई ७०-८० मील है और अधिकांश मार्ग ऐसा है कि बदन की हड्डियाँ एक दूसरे से टक्कर खाने लगती हैं। जब हम हिचकोला खा-खाकर एक दूसरे से टकरा रहे थे, तब श्री रामेश्वर दयाल दुबे ने एक सूक्ति कही—"यह हिचकोला नहीं है दिनकरजी! शरीर की हड्डियाँ आठ-अठे चौंसठ का पहाड़ा याद कर रही हैं।" सो आठ-अठे चौंसठ का पहाड़ा पढ़ते-पढ़ते हम संध्या तक पोरबन्दर पहुँच गये और समुद्र-तट पर बनी हुई एक सुन्दर अतिथिशाला में उतरे।

पोरबन्दर समुद्र के किनारे बसा हुआ है और ऊँचे-ऊँचे भवनों के आधिक्य के कारण यह अच्छा खासा कलकत्ता मालूम होता है, यद्यपि इसकी आबादी कुल बीस हजार है। भगवान कृष्ण के समय यहाँ सुदामाजी जन्मे थे और इसका एक नाम सुदामापुरी अब भी है। किन्तु, हमारे जमाने में तो सुदामापुरी ने और भी उत्तम पुण्य का परिचय दिया है, क्योंकि यही नगर विश्ववन्द्य महात्मा गाँधी का जन्मस्थान है। हम लोग पोरबन्दर पहुँचते ही कीर्त्ति-मन्दिर देखने को चले गये। कीर्त्ति-मन्दिर महात्मा गाँधी का स्मारक है, जो उनके जन्म-गृह को साथ लेकर खड़ा किया गया है। जिस कोठरी में गाँधीजी जन्मे थे, वह कोठरी बड़े ही कौशल से कीर्त्ति-मन्दिर का अंगीभूत कर दी गयी है। गाँधीजी माँ के उदर से जहाँ पृथ्वी पर उतरे थे, वहाँ स्वस्तिक चिह्न बना दिया गया है, जिससे कीर्त्ति-मन्दिर की कल्पना करनेवाले व्यक्ति की सूझ का पता चलता है। यहाँ गाँधीजी या कस्तूर बा की मूर्त्तियाँ नहीं, केवल चित्र हैं और धर्म का आडम्बर भी यहाँ कोई नहीं है। कीर्त्ति-मन्दिर में गाँधीजी के जीवन की मुख्य-मुख्य घटनाओं की जो सूची अंकित की गयी है, उसमें उनके चम्पारण-सत्याग्रह का उल्लेख नहीं है। यह बात मैंने वहाँ के कार्यकर्त्ता को तो सुझा दी है; अब देखें, वे इस दोष का मार्जन करते हैं या नहीं।

कीर्त्ति-मन्दिर भव्य, विशाल और प्राणप्रेरक स्मारक है। कीर्त्ति-मन्दिर के संग्रहालय में हमने एक दस्तावेज देखी, जो गाँधीजी के जन्मस्थान के मकान की खरीदगी का मूल

लेख है। खरीदार हैं गाँधीजी के प्रपितामह श्री हर जीवन गाँधी और यह कागज संवत् १८३३ अर्थात् सन् १७७६ ई० का है। इसकी भाषा तो गुजराती है, लेकिन, वह शुद्ध नागरी में लिखी हुई है। खरीदार, बेचनेवाले और सभी गवाहों के हस्ताक्षर भी नागरी में ही हैं। इसपर मुझे चकित होते देखकर एक साथी ने कहा कि आज से सिर्फ दो पीढ़ी पहले तक गुजराती पाठ्य पुस्तकों में कविताओं को नागरी लिपि में छापने का रिवाज था।

कीर्त्ति-मन्दिर से लौटकर हमने सुदामा-मन्दिर में भक्त-शिरोमणि श्री सुदामाजी के दर्शन किये। वस्तुतः, मन्दिर के मुख्य सिंहासन पर तो द्वारकाधीश ही विराजमान हैं। सिंहासन के नीचे दाईं ओर श्री सुदामाजी खड़े हैं।

दूसरे दिन, बड़े सबेरे हम लोग आर्य-कन्या-विद्यालय देखने गये, जिसे कोई सत्ताइस लाख रुपये खर्च करके सेठ नानजी भाई कालिदास ने बनवाया है। कीर्त्ति-मन्दिर भी इन्होंने ही बनवाया है और उसमें भी इन्होंने कोई चार लाख रुपये खर्च किये हैं। पोरबन्दर का आर्य-कन्या-विद्यालय, सचमुच ही, अपने ढंग की अकेली संस्था है। इसके भवन तो राजभवन को भी नीचा दिखाते हैं। नानजी भाई ने बालकों के लिए भी एक आर्य-विद्यालय बनवाया है जो, शायद, जूनागढ़ के पास है। किन्तु, इस विद्यालय को हम लोग देख नहीं सके।

पोरबन्दर से सौ मील भागकर हम लोग विरावल आये और अतिथिशाला में हम पहुँचे ही थे कि भाई पृथ्वीराजजी

ने कमरे से निकलकर पूरे जय-जयकार के साथ हमारा स्वागत किया। वे अपनी मण्डली को लेकर उन दिनों वहीं ठहरे हुए थे। फिर तो थोड़ी देर हमारे थके हुए मनों पर आनन्द की वृष्टि हो गयी। पृथ्वीराज में कला का आनन्द हरदम तरंग पर रहता है।

संध्या होने के पूर्व ही हम लोग घूमने निकल गये। विरावल अच्छा खासा बन्दरगाह है। यहाँ से दो मील पर वह स्थान है, जहाँ पर भगवान कृष्ण को व्याधा का तीर लगा था। फिर, एक मील की दूरी पर वह स्थान है, जहाँ भगवान ने अपना शरीर छोड़ा था। इस स्थान को देहोत्सर्ग नाम से पुकारते हैं। देहोत्सर्ग उस स्थान पर है, जहाँ हिरन, कपिला और सरस्वती नामक तीन नदियाँ समुद्र में गिरती हैं। कहते हैं, यहीं पर भगवान ने पहले यदुवंशियों का श्राद्ध भी किया था। देहोत्सर्ग के पास ही वल्लभाचार्यजी की बैठक है, जिससे इस स्थल के सत्य होने का और भी प्रमाण मिलता है।

विरावल से तीन मील की दूरी पर प्रभास क्षेत्र है, जहाँ सोमनाथ का मन्दिर और प्राचीन किला है। सोमनाथ मन्दिर के समीप जाते-जाते हृदय खौलने लगा और इतिहास की स्मृतियाँ बुद्धि को अंधी बनाने लगीं। जब सोमनाथ के नये मन्दिर का उद्घाटन हो रहा था, हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के उर्दू अखबारों ने काफी कोलाहल मचाया था कि सोमनाथ का उद्धार क्यों किया जा रहा है। मगर काश! हमारे मुस्लिम भाई यह जान पाते कि सोमनाथ भारत के किस

भाव का प्रतीक है ! महमूद गजनी को लेकर बारी-बारी से पाँच बार मुसलमानों ने इस मन्दिर की दुर्दशा की और बारी-बारी से पाँच बार हिन्दू राजाओं ने उसे पहली ही नींव पर खड़ा किया। सोमनाथ-मन्दिर केवल मन्दिर नहीं रहकर भारत के स्वाभिमान और स्वतन्त्रता का प्रतीक बन गया था। जब भी मुसलमान राजाओं ने इस मन्दिर को ध्वस्त किया, तभी उनकी चुनौती किसी हिन्दू राजा ने स्वीकार कर ली और वह मन्दिर को फिर से उठाने के काम में जुट गया। सारा देश गुलाम था, किन्तु, आजादी की एक चिनगारी सोमनाथ मन्दिर में छिपी हुई थी, जिसे मुसलमान बार-बार बुझाना चाहते थे और हिन्दू उसे जीवित रखने को बलिदान पर बलिदान दिये जा रहे थे।

जब यह नया मन्दिर बनने लगा, लोगों ने प्रश्न उठाया कि मन्दिर नयी नींव पर बने या पुराने मन्दिर के खंडहरों को तोड़कर पुरानी नींव पर। कहते हैं, सरदार पटेल का यह मत हुआ कि सोमनाथ का मन्दिर हर बार पुरानी नींव पर बनता आया है। इस बार भी वह पुरानी ही नींव पर बनेगा। अतएव, प्राचीन मन्दिर के खंडहर जतन से सँवार कर एक संग्रहालय में सजा दिये गये और नये मन्दिर की नींव पुरानी जगह पर ही डाली गयी। मन्दिर अभी बन नहीं पाया है। सिर्फ मंडप और प्राचीर बने हैं। चार लाख का काम हो गया है। छियानब्बे लाख का काम अभी और होना बाकी है। काम रुका हुआ इसलिए है कि समुद्री वायु से मन्दिर

के पत्थर गलने लगे और प्रबन्धकों ने यह सोचा कि अभी और कुछ ठहरकर देख लें कि पत्थरों का क्या हाल होता है।

इस मन्दिर की एक महिमा यह भी है कि जैसे कन्याकुमारी से दक्षिणी ध्रुव तक पृथ्वी नहीं है, उसी प्रकार, सोमनाथ का मन्दिर भी पृथ्वी के अन्तिम छोर पर अवस्थित है और उसके भी दक्षिण में, दक्षिण ध्रुव तक, जमीन नहीं है। एक यही बात सोमनाथ मन्दिर की विलक्षणता को भली भाँति प्रमाणित कर देती है। अगर हिन्दू-मुस्लिम-प्रश्न से हटाकर देखें, तब भी मात्र भौगोलिक कारण से, यह मन्दिर ऐसा है, जिसे देश को उसी शान से बनाना चाहिए, जिस शान से आज अच्छे से अच्छा मन्दिर बनाया जा सकता है। और इसमें मुस्लिम भाइयों के बुरा मानने की भी कोई बात नहीं है। महमूद गजनी और तत्कालीन हिन्दू-मुस्लिम-वैमनस्य, दोनों को इतिहास ने एक किनारे लगा दिया है। अब जो शेष है, वह प्राचीन परंपरा का आदर मात्र है। इस आदर से किसी का भी अपमान नहीं होगा।

सोमनाथ से चलकर दूसरे दिन हम लोग जूनागढ़ पहुँचे। जूनागढ़ में दर्शनीय स्थान अनेक हैं। सबसे पहले तो वह शिला है, जिसपर अशोक, रुद्रदमन और स्कन्दगुप्त के अभिलेख मिलते हैं। तब दामोदर कुंड है, जिसमें नहाने को सन्त नरसी मेहता आया करते थे। जूनागढ़ नगर में एक मन्दिर है, जिसे लोग नरसी मेहता का चौड़ा कहते हैं। नरसी यहीं रहते थे और यहीं उन्होंने श्रीकृष्ण की रासलीला देखी थी। गिरनार पहाड़ी भी जूनागढ़ में ही है, जिसपर जैन-मन्दिरों की भरमार

है और जहाँ जैन और हिन्दू यात्री धर्म-भाव से आते हैं। गिरनार के पास एक वैष्णव धर्मशाला भी है जो पूज्य टंडनजी की प्रेरणा से बनवायी गयी है। गिरनार के जंगलों का यह महत्त्व है कि भारतीय सिंह अब केवल इन्हीं जंगलों में मिलते हैं। जूनागढ़ के चिड़ियाघर में दो सिंहनियाँ और एक सिंह हैं। सिंहनियों के नाम पूर्णिमा और ऊषा हैं। सिंह को लोग अरुण कहते हैं। सुनने में आया कि पूर्णिमा गिरनार के जंगल में रहती थी और चिड़ियाघर में वह आप से आप आ गयी। बात यह हुई कि चिड़ियाघर के सिंह जब रात में गर्जन करते थे, तब उनकी आवाज सुनकर पूर्णिमा जंगल में विह्वल हो जाती थी। फिर, वह जंगल से चिड़ियाघर में रात में खुद आने लगी और, इस प्रकार, प्रेम के कारण वह एक दिन चिड़ियाघरवालों के जाल में फँस गयी।

६. फिर राजकोट

जूनागढ़ से हम लोग राजकोट आये। राजकोट में मित्रों ने एक साहित्य-सभा का आयोजन कर रखा था। इस सभा में इलाके के कई प्रसिद्ध कवि और चारण विशेष रूप से बुलाये गये थे। सभा देर तक चली और लोगों को उसमें बड़ा आनन्द आया। गुजराती में गजल का रिवाज जोरों से चल पड़ा है और गुजराती की गजलें काफी अच्छी होने लगी हैं। अकबर भाई और घायलजी की गजलें मुझे उत्तम जान पड़ीं। हिन्दी में गजल के जो प्रयोग चल रहे हैं, वे, प्रायः, उखड़े-उखड़े-

से हैं। ऐसा लगता है, मानों गजल की पद्धति हिन्दी की मूल प्रवृत्ति के प्रतिकूल हो। हाँ, बच्चन के गीतों में और उनके अनुकरण पर बननेवाले अन्य कवियों के गीतों में गजल के कुछ खास गुण काफी स्वाभाविकता से जरूर पचे हैं।

इस सभा में मैंने सौराष्ट्र के दो सर्वश्रेष्ठ चारणों के दर्शन किये, जिनमें से एक का नाम मेरु भाई और दूसरे का श्री दुलाभाई काग है। दुला भाई को देखकर तो मैं दंग रह गया। उनकी स्मृति बड़ी विलक्षण है। ऐसा लगता है, मानों, सौराष्ट्र का सारा लोक-साहित्य उन्हें कंठस्थ हो। कथा-कहानी और लोक-गीतों की धारा उनके मुख से इस प्रकार झरती है, मानों, किसी महापर्वत के हृदय से अजस्त्र निर्झर-धारा झर रही हो। बीच-बीच में वे टीका भी करते जाते हैं और उस प्रसंग में उद्धरणों का अम्बार लगा देते हैं।

श्री दुला भाई काग स्वयं भी अच्छे कवि हैं और गुजरात के लोक-साहित्य में वे नयी चीजें भरते ही जा रहे हैं। दूसरे दिन, मुख्य मन्त्री श्री ढेबर भाई के निवास-स्थान पर उन्होंने विनोबाजी पर रचित अपनी एक हिन्दी कविता भी सुनायी जो काफी अच्छी थी। वे सभाचतुर और लोगों का मनोरंजन करने में बड़े पटु हैं। इसी प्रकार, सौराष्ट्र की जनता भी उन्हें बहुत चाहती है। केवल जनता ही नहीं, अमीर-उमरा, पंडित-ज्ञानी और मंत्रियों तथा अफसरों के भी वे श्रद्धाभाजन हैं। लोग जानते हैं कि दुला भाई-जैसे लोग संस्कृति के सच्चे रक्षक एवं प्रहरी हैं। इसलिए, सर्वतोभावेन वे उनका

सम्मान करते हे। ऐसा सम्मान सिर्फ हिन्दी-क्षेत्रों में ही दुर्लभ है। यहाँ तो बड़े लोग साहित्यिकों की जमघट में जाने को हेठी मानते हैं और साहित्यकार अपनी जातिवालों की टाँग खींचने को ही अपना श्रेष्ठ सुकर्म।

सौराष्ट्र में भारतीय वीरता कभी जोर से चमकी थी। आज वहाँ वाणिज्य चमक रहा है। ऊँचे स्तर के वाणिज्य के लिए भी एक प्रकार की वीरता और साहस का भाव चाहिए। नानजी भाई सेठ से भेंट हुई, तो उन्होंने, बातों-बातों में, अपनी आत्मकथा शुरू कर दी और बताया कि बारह वर्ष की उम्र में वे पहले-पहल अफरीका गये थे। किन्तु, जिस नाव में वे यात्रा कर रहे थे, वह देशी नाव थी। तूफान आने से नाव डूबने लगी, इसलिए, लोगों ने नाव में से सारा बोझ निकालकर बाहर फेंक दिया। केवल कुछ चावल बचा लिया गया, जिसे ज्यों-त्यों खाकर लोग छह महीने तक समुद्र में निरवलंब भटकते रहे। आखिर, वे एक दिन मैडेगास्कर के तट पर जा लगे। इस तरह, उनकी जान बच गयी। ऐसी मुसीबतों का सामना करने का जोश सौराष्ट्रवासियों में अब भी मौजूद है। जमीन तो उनकी अच्छी नहीं है, किन्तु, ऊसर भूमि में वास करने से स्वभाव में जो साहस उपजता है, वह यहाँ के लोगों में यथेष्ट मात्रा में विद्यमान है। इधर उनपर गाँधीजी के विचारों का भी प्रभाव पड़ा है। इन सारे गुणों से युक्त होने के कारण सौराष्ट्र के लोगों को मैं सौभाग्यशाली मानता हूँ। उनके सामने उज्ज्वल भविष्य है और वे देश के भविष्य को गढ़ने में अच्छा योगदान दे सकेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

१९५४ ई०]

काश्मीर की सैर

वायु-मार्ग से काश्मीर जाने में रास्ते में हिमालय की पर्वत-श्रेणियों की शोभा तो दिखायी पड़ती है, किन्तु, श्रीनगर उतर कर जब यात्री नगर के भीतर प्रवेश करता है, तब वह किंचित् निराश होकर सोचने लगता है कि क्या यही काश्मीर है, जिसकी उतनी बड़ाई सुनते थे। श्रीनगर शिमला, नैनीताल और दार्जिलिंग से भिन्न प्रकार का नगर है। यह नगर ऊबड़-खाबड़ पर्वत पर नहीं, प्रत्युत्, पहाड़ की समतल घाटी में बसा हुआ है। इसलिए, उसका ढाँचा समतल के ही नगरों का ढाँचा है। हाँ, जब हम नगर के उपान्त की ओर निकलते हैं, तब पहाड़ों की शोभा फिर आँखों के सामने आने लगती है। वैसे, यह नगर सर्वत्र झेलम नदी के दोनों तटों पर बसा हुआ है और नदी पर सात पुल हैं, जो नगर के दोनों भागों को परस्पर संयुक्त करते हैं। किन्तु, झेलम का पानी जून में भी स्वच्छ नहीं दिखायी देता। पर्वतों की गोद से जो स्फटिक के समान सैंकड़ों उज्ज्वल झरने उतरते हैं, उनमें से अनेक झेलम में आ मिलते हैं। किन्तु, नगर-तट तक पहुँचते-पहुँचते यह नदी मटमैली हो जाती है।

समुद्र से पाँच हजार फीट की ऊँचाई पर, हिमालय के कंधे या ललाट पर कोई दो हजार वर्ग मील की एक यत्किञ्चित् समतल भूमि है, जिसमें पहाड़ भी हैं और झरने भी, खेत भी

हैं और नदियाँ भी, झीलें भी हैं और वन तथा बाग भी। यही काश्मीर है। श्रीनगर में काश्मीर की सुषमाएँ तब प्रत्यक्ष होने लगती हैं जब हम डल झील की ओर निकलते हैं। डल श्रीनगर का प्राण है। यह झील चार मील लंबी और कोई ढाई मील चौड़ी है और इसकी अधिक-से-अधिक गहराई बीस हाथ है। डल के पार्श्व में दो ओर ऊँची-ऊँची पर्वत-श्रेणियाँ हैं, जिन पर हरियाली लदी हुई है और उसका नगर की ओरवाला भाग ऐसा है जो हाउस बोटों से भरा रहता है।

हाउस बोट उन नावों को कहते हैं जिनका उपयोग श्रीनगर में वासगृह के तौर पर किया जाता है। ये नावें चालीस से लेकर साठ हाथ तक लंबी और कोई दस हाथ चौड़ी होती हैं। उनमें शयनकक्ष, रसोई-घर, भोजन करने का कमरा, ड्राइंग-रूम, स्नानागार, सभी कुछ होते हैं। यही नहीं, आप चाहें तो नाव की छत पर भी कुर्सियों पर बैठकर सारी झील की शोभा देख सकते हैं। श्रीनगर में ऐसी कोई दो हजार नावें हैं जिनमें से हर एक नाव छोटे-मोटे होटल का काम देती है। इन बड़ी नावों के अलावे, डल झील में छोटी-छोटी रंग-बिरंगी डोंगियाँ भी हैं, जिन्हें शिकारा कहते हैं। ये शिकारे डल झील की टैक्सी गाड़ियाँ हैं। दिन ढलते ही आप देखेंगे कि यात्री शिकारों में बैठकर झील की सैर को निकल रहे हैं और यह सिलसिला कोई आठ बजे शाम तक चलता रहता है। गर्मी के दिनों में श्रीनगर में आठ बजे का समय वैसा ही झुटपुटा होता है जैसा दिल्ली में सात बजे शाम को दिखायी देता है। इन्हीं

शिकारों पर मोदी और दूकानदार बिक्री की भाँति-भाँति की चीजें लेकर झील पर घूमते होते हैं और यही शिकारे हाउस बोटों में रसद और सामान भी पहुँचाते हैं। यही नहीं, आप चाहें तो अपनी हाउस बोट पर भी डल से वुलर झील तक घूम सकते हैं। आप अपने घर में बैठे लिखते-पढ़ते या गप्पें मारते रहिये, घर, आप से आप, आपको सारी झील की सैर करा देगा। इन नावों के भारतीय नाम, जहाँ तक मुझे याद है, केवल तीन ही दीखे—शीला, लाला-रुख और गुलोबुलबुल। बाकी सभी नावों के नाम अंगरेजी ढंग पर रखे जाते हैं। मगर, अंगरेजी नामों में भी कवित्व और बेफिक्री की गन्ध कम नहीं है। 'ग्रे डान', 'द ड्यूक आव् विन्डसर', 'मे फ्लावर', 'ईगल', 'नेपच्युन' आदि नामों में भी दैनिक जीवन की रुक्षता को भुलाने की ईषत् शक्ति है और काश्मीर तो यात्री अपने आप को भूलने के लिए ही जाता है।

डल में पानी जहाँ कम है, वहाँ तैरनेवाले बाग भी मिलते हैं। अचरज की बात है कि श्रीनगर की झील में ऐसी जमीन है जो पानी के ऊपर तैरती है। इसी जमीन पर लोग तरकारी की खेती करते हैं और इसी जमीन को चोर चुराकर एक जगह से दूसरी जगह ले जाते हैं।

डल के समान काश्मीर में दो-एक और भी झीलें हैं। सब से बड़ी झील का नाम वुलर है जो, प्रायः, बारह मील लंबी और पाँच मील चौड़ी है। यह झील तराई की पूर्वोत्तर सीमा के पास है तथा उस के पार्श्व में भी ऊँची-ऊँची पर्वत-श्रेणियाँ

अपरिमित हरियाली का भंडार लिये खड़ी हैं। भारत भर में स्वच्छ जलवाली ऐसी कोई झील नहीं है जो आकार में वुलर के समान हो। बल्कि, कहा जाता है, यह एशिया मात्र की सब से बड़ी झील है। वुलर का प्राचीन नाम महा पद्मसर है। किसी-किसी पंडित का यह भी अनुमान है कि वुलर का प्राचीन नाम उल्लोल रहा होगा, जिससे बिगड़ते-बिगड़ते वुलर नाम निकल आया है।

काश्मीर की तीसरी प्रमुख झील का नाम मानसबल है जो वुलर और डल, दोनों की अपेक्षा अधिक गंभीर है। मानसबल का जल गहरा और नील वर्ण का है तथा उसके किनारे-किनारे कमल के ऐसे सघन कुंज हैं कि फूलों और पत्तों की शोभा देखते ही बनती है। नीले जल पर हरे-हरे पत्ते और उन पर भाँति-भाँति के कमल के फूल, यह दृश्य इतना सुहावना लगता है कि मन वहाँ से हटना नहीं चाहता। कमल फूलों की बहार डल में भी है और जब मैं शिकारे पर बैठकर उन फूलों के बीच से निकलता तब ऐसा लगता था, मानों, स्वर्ग अब कहीं पास ही छिपा होगा। किन्तु, मानसबल के तो किनारे पर ही आनन्द की समाधि लग जाती है। कमलों की जैसी शोभा काश्मीर में है, वैसी देश में अन्यत्र, शायद ही, कहीं होगी। मानसबल के किनारे बैठे-बैठे मन में अनायास यह भाव उठा कि, हो न हो, कालिदास ने काश्मीर में ही कमल की पूरी महिमा समझी होगी और यहीं उनके भीतर यह अनुभूति उत्पन्न हुई होगी कि कमल भारतवर्ष का राष्ट्रीय पुष्प है।

जब हम श्रीनगर से पहलगाँव जाने लगे, रास्ते में वह जमीन आयी, जिसमें केसर पैदा होता है। मैंने सुन रक्खा था कि काश्मीर में केवल बारह बिघा जमीन है, जिसमें केसर की खेती होती है। किन्तु, यहाँ देखा कि केसर के खेत और नहीं तो आधा मील लम्बे तो होंगे ही। किन्तु, मैं केसर के पौधे नहीं देख सका, क्योंकि केसर की फसल का वह समय नहीं था। आईने-अकबरी में अबुल फजल ने लिखा है कि जो आदमी किसी भी तरह खुश नहीं किया जा सकता, उसे फूलते हुए केसर के खेत में ले जाकर छोड़ दो। वह आप से आप आनन्द से भर जायगा। कालिदास ने भी केसर के पौधों और फूलों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। केसर की खेती के योग्य जमीन सारे संसार में बहुत कम है। यह भारत का सौभाग्य है कि उसके ललाट के दाहिने कोने पर केसर लगा हुआ है।

पहलगाँव के रास्ते से ही जरा मुड़कर हम बेरीनाग गये। नाग काश्मीरी भाषा में चश्मे या झरने को कहते हैं। बेरीनाग उस झरने का नाम है, जहाँ से झेलम निकलती है। यह झरना कुंड बनाकर दीवारों और बरामदों से घेर दिया गया है। कहते हैं, यह स्थापत्य जहाँगीर के समय बना था, जिसके प्रमाण फारसी में अंकित दो शिला-लेख हैं। बेरीनाग का पानी पिघले हुए नीलमणि के समान जगमग और सुनील है तथा उसमें छोटी-बड़ी, सभी प्रकार की मछलियाँ निर्भीकता से उतराती रहती हैं। किन्तु, उस स्थान की असली शोभा तो कुंड से बाहर खड़े पर्वतों में बसती है। कुंड के पास पार्श्व में

खड़ी पर्वत-श्रेणी अत्यन्त ऊँची है और उस पर खड़े वृक्ष आकाश को छूते-से जान पड़ते हैं। नीचे कुंड के सामने ही बड़े-बड़े चिनार के पेड़ हैं, जिनकी छाया में बैठते ही सारी श्रान्ति दूर हो जाती है। चिनार काश्मीर की सुषमा के जीवित स्तम्भ हैं। इस वृक्ष के तने काफी मोटे होते हैं, यहाँ तक कि काश्मीर में एकाध ऐसा भी चिनार है, जिसके तने की मोटाई चालीस हाथ के करीब होगी। छायादार वृक्षों में बट और पीपल भी उल्लेखनीय हैं, किन्तु, काश्मीर में चिनारों की जो शोभा है, वह भारत में कहीं भी बट और पीपल में नहीं मिलती। काश्मीर में जहाँ भी दो-तीन चिनार खड़े हैं, वहीं सौन्दर्य के एक छोटे-से तीर्थ का निर्माण हो गया है। श्रीनगर के इम्पोरियम-बाग में जो शोभा है, वह चिनारों की शोभा है। खीरभवानी में जो मनोहारिता है, उसके आधार चिनार के पेड़ हैं, और शालीमार तथा निशात के बागीचों में भी फूलों और पत्तियों का सारा सौन्दर्य चिनारों की विशाल हरीतिमा की गोद में अठखेलियाँ करता है।

पहलगाँव के रास्ते में ही मटण्ड मिला, जिसका प्राचीन नाम मार्तण्ड है। मार्तण्ड नाम इस कारण कि यहाँ सूर्यदेव का मन्दिर है। मटण्ड पहुँचते ही पंडे इस जोर से टूटते हैं, जैसे वे जगन्नाथपुरी और रामेश्वरम् में भी नहीं टूटते। मार्तण्ड पहुँचकर यात्री शान्ति से कुछ देख सके, इसकी आशा बिल्कुल नहीं करनी चाहिए। वहाँ आप जितनी देर रहेंगे, वह सारा समय पंडों से बक-झक करने में बीत जायगा।

पहलगाँव की घाटी कटोरे के आकार की है। चारों ओर ऊँची-ऊँची पर्वत-श्रेणियाँ हैं और कटोरे की पेंदी में पहलगाँव बसा हुआ है। पहलगाँव की घाटी में खड़ा होकर आदमी जब चारों ओर दृष्टि डालता है, तब उसे यह अनुभूत होने लगता है कि वह प्रकृति की अनन्तता से घिरा हुआ है। ऊँचे पर्वतों की विशेषता है कि वे मनुष्य के मन में उच्चता और विस्तार की वृद्धि करते हैं। इस मानसिक प्रसार का अनुभव पहलगाँव की घाटी में अनायास होने लगता है और मन के भीतर ये परम्परागत कल्पनाएं आप से आप उठने लगती हैं कि यहीं से कहीं स्वर्ग का मार्ग जाता होगा, इसी के आस-पास कहीं कैलास का शिखर और देवताओं का देश होगा। यहि अमरन को ओक, यहीं कहुँ बसत पुरन्दर। और, सचमुच, अमरनाथ का मार्ग पहलगाँव होकर ही जाता है। पहलगाँव में प्रकृति के भीतर जो शान्ति और उच्च प्रेरणाएँ विराजती हैं उनसे, सहज ही, यह समझ में आ जाता है कि प्राचीन भारत के साधक हिमालय को तपोभूमि क्यों कहते थे। हिमालय, सत्य ही, देवतात्मा शैल है।

श्रीनगर से पहलगाँव आते-जाते रास्ते में जो पतली शुभ्र निर्झरिणी की धारा मिलती है, वह उछलती-गाती बहुत दूर तक यात्रियों के साथ चलती है। निर्झरिणी नामक जो कविता 'रेणुका' में संगृहीत है, उसकी रचना मैंने झरना देखे बिना की थी। किन्तु, पहलगाँव आते-जाते समय पार्श्ववाहिनी निर्झरिणी को देखकर मुझे लगा, वह कल्पना बहुत दूर तक ठीक है।

गति-रोध किया गिरि ने, पर, मैं द्रुत भाग चली घहराती हुई,
सरकी उपलों में भुजंगिनी-सी मैं शिला से कहीं टकराती हुई।

पत्थरों के बीच से निर्झरिणी साँपिनी के समान ही इधर-उधर मुड़ती चलती है।

काश्मीर की दूसरी शोभा-स्थली गुलमर्ग है। मर्ग काश्मीरी भाषा में चरागाह को कहते हैं। गुलमर्ग का अर्थ होगा पुष्पित चरागाह। यह शब्द चाहे जैसे भी निकला हो, किन्तु, अर्थ इसका विलक्षण है। श्रीनगर से गुलमर्ग जाते हुए रास्ते में दोनों ओर सफेदा के वृक्ष मिलने लगते हैं। इस सड़क को देखकर, बरबस, यूरोप की याद आ जाती है। और जलवायु तथा वनस्पति की दृष्टि से काश्मीर भारतवर्ष में यूरोप का नमूना माना भी जा सकता है। गुलमर्ग जाने के लिए टनमर्ग पहुँचकर सवारी छोड़ देनी पड़ती है। टनमर्ग मूल में है और गुलमर्ग शिखर पर। मूल से शिखर की ऊँचाई चार मील होगी। इस दूरी को पैदल या टट्टू पर चढ़कर तय करना होता है। अब, कभी-कभी, जीप गाड़ी भी ऊपर तक चली जाती है। गुलमर्ग का भी आकार पहलगाँव की तरह कटोरे का ही आकार है। गुलमर्ग से कुछ ऊपर खिलनमर्ग की चोटी है, जिस पर गर्मी में भी बर्फ पड़ती रहती है।

गुलमर्ग, खिलनमर्ग, सोनमर्ग और पहलगाँव, ये काश्मीर के मुख्य सौन्दर्य-स्थल हैं। किन्तु, हरवन में प्रकृति की जो छटा दिखायी पड़ती है, वह इनमें से किसी से भी कम नहीं है। फर्क यह है कि हरवन छोटी जगह है और वहाँ

ठहरने आदि का प्रबन्ध नहीं है। असल में, हरवन श्रीनगर का जलागार है, जहाँ से पीने का पानी श्रीनगर ले जाया जाता है। हरवन से ही दो नहरें शालिमार और निशात के बागीचों में भी जाती हैं। किन्तु, हरवन की चोटी या दीवार पर से पर्वतों की जो ऊँचाई दिखायी पड़ती है, उसका मन पर अत्यन्त गहरा प्रभाव पड़ता है। यहाँ से आप जब पर्वतों की ओर देखते हैं तब आप को ऐसा महसूस होता है, मानों, आप संसार से निकल कर एक ऐसी जगह आ गये हैं, जहाँ केवल नीरवता, केवल नीरवता का साम्राज्य है और आप बिल्कुल निःसंग हैं। फिर ऐसा अनुभव होने लगता है, मानों, आप की और इन पर्वतों की आत्माएँ एक हों और ये पर्वत आप के पूर्व-परिचित गुरु या मित्र रहे हों। हरवन पहुँचकर कुछ भी बोलने की इच्छा नहीं होती। मन निर्मुक्त होकर वहाँ की शान्ति में केवल तैरना चाहता है, केवल तैरना।

१९५६ ई०]



काव्य-भूमि काश्मीर

भारतीय संविधान ने देश की जिन चौदह भाषाओं को माना है उनमें काश्मीरी भाषा भी एक है। किन्तु, जम्मू और काश्मीर राज्य की राजभाषा काश्मीरी नहीं, उर्दू है। काश्मीरी भाषा की मुख्य कठिनाई यह है कि उसे लिपि नहीं है। यह भाषा पहले शारदा लिपि में लिखी जाती थी, किन्तु, शारदा का प्रचलन अब नहीं है। फिर, बारी-बारी से, यह भाषा फारसी और नागरी लिपियों में लिखी जाने लगी, किन्तु, ये लिपियाँ भी काश्मीरी के अनुरूप न निकलीं, यद्यपि, काश्मीर-निवासियों का मत है कि इन दोनों लिपियों में से नागरी काश्मीरी के बहुत अधिक अनुकूल पड़ती है। सन् १९४९ ई० में तत्कालीन काश्मीरी सरकार ने काश्मीरी भाषा के लिए एक नयी लिपि का प्रचलन किया, किन्तु, वह लिपि भी चल नहीं सकी। परिणाम यह है कि अभी भी कुछ लोग इस भाषा के लिए फारसी लिपि का व्यवहार करते हैं और कुछ नागरी लिपि का। किन्तु, इससे बात बनती दिखायी नहीं देती। परिणामतः, आज भी काश्मीरी का, प्रायः, सारा प्राचीन साहित्य अप्रकाशित पड़ा है।

काश्मीर का प्राकृतिक सौन्दर्य इतना अद्भुत है कि उसे हम सहज ही कविता की भूमि कह सकते हैं। कालिदास के सम्बन्ध में, अक्सर, यह प्रश्न उठाया जाता है कि, हो न हो,

वे काश्मीर के रहे होंगे। इस सम्बन्धमें रवि बाबू का विचार था कि और कोई तर्क ठहरे या नहीं, किन्तु काश्मीर में प्रकृति की जो अपार सुन्दरता विराजती है वह अपने आप में इस बात का प्रमाण मानी जा सकती है कि कालिदास काश्मीरी रहे होंगे। परन्तु, कालिदास काश्मीरी थे या नहीं, यह प्रश्न भले ही विवाद-ग्रस्त हो, किन्तु, संस्कृत के महाकवियों और काव्य के प्रकाण्ड आचार्यों में से एक लंबी सूची उन लोगों की अवश्य है जो काश्मीरी थे। विशेषत:, संस्कृत का काव्यशास्त्र और शैव दर्शन, भारत की इन दो विद्याओं का वर्द्धन और विकास काश्मीर में हुआ। काव्यशास्त्र तो, एक प्रकारसे, काश्मीरकी ही देन है क्योंकि जिन आचार्यों ने काव्यशास्त्र-विषयक चिंतन को ज्ञान की चोटी पर चढ़ाया वे काश्मीरी थे। काश्मीर की पर्वतश्रेणियाँ, काश्मीर के वन, काश्मीर के सोते और झरने तथा काश्मीर की झीलें तथा जलवायु, इनमें प्रतिभा को स्फुटित करने की कोई बड़ी शक्ति छिपी होगी, अन्यथा, उतने से छोटे भूभाग में, एक के बाद एक, संस्कृत के जितने कवि और आचार्य उत्पन्न हुए उसका और क्या कारण हो सकता है?

संस्कृत में एक कवि भर्तृमेण्ठ नाम के हुए हैं, जिनका विवरण कल्हण की 'राजतरंगिणी' में मिलता है। कल्हण के विवरणा-नुसार, भर्तृमेण्ठ ने 'हयग्रीव-वध' नामक महाकाव्य लिखा था जिसका उल्लेख मम्मट ने भी किया है। यह काव्य अभी तक नहीं मिला है। किन्तु, भर्तृमेण्ठ कितने बड़े कवि थे, यह इस बात से जाना जा सकता है कि राजशेखर ने

गर्वोक्ति करते हुए कहा है कि पहले जो वाल्मीकि था, वही कालक्रम में भर्तृमेण्ठ हुआ और वही फिर भवभूति के रूप में आया और आजकल वही राजशेखर के रूप में वर्त्तमान है।

बभूव वल्मीकभवः पुरा कविः,
ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्,
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया,
स वर्त्तते संप्रति राजशेखरः।

ये कविकुंजर मेण्ठराज काश्मीर के राजा मातृगुप्त के सभा-पण्डित थे।

इसी प्रकार, हरविजय नामक शैव महाकाव्य के रचयिता रत्नाकर कवि काश्मीर-नरेश जयापीड़ की सभा में थे। जयापीड़ ने स्वयं बालबृहस्पति की उपाधि धारण की थी तथा उनका काल आठवीं सदी का अन्त या नवीं का आरम्भ माना जाता है। रत्नाकर के समय में महाकवि माघ का सुयश सारे देश में छाया हुआ था। कहते हैं, रत्नाकर ने अपने काव्य में माघ से प्रतिस्पर्धा की है। इसी समय, काश्मीर में शिवस्वामी नामक बौद्ध कवि हुए, जिन्होंने 'कप्फिणाभ्युदय' काव्य की रचना की। ग्यारहवीं सदी में यहीं आचार्य क्षेमेन्द्र उत्पन्न हुए, जिन्होंने संस्कृत में अनेक ग्रन्थों की रचना की, जिनमें से काव्यशास्त्र के दो ग्रन्थ, सुवृत्ति-तिलक और औचित्य-विचार-चर्चा के अलावे, दशावतारचरित महाकाव्य, रामायणमंजरी, भारतमंजरी और बृहत्कथामंजरी भी बहुत प्रसिद्ध हैं।

बारहवीं सदी के मध्य में होनेवाले महाकवि मंखक भी काश्मीरी थे। ये आचार्य रुय्यक के शिष्य और राजा जयसिंह के सभा-पण्डित थे। मंखक शैव थे और उन्होंने श्रीकंठचरित नामक जो महाकाव्य लिखा, उसमें शंकर और त्रिपुर के युद्ध का वर्णन है। इसी महाकाव्य में सूर्यास्त का वर्णन करते हुए मंखक ने कहा है कि सूर्य कालगणक देव का सोने का मसिपात्र है। संध्या समय जब यह दावात उलट जाती है तब उसी की स्याही के ढरक जाने से संसार में अंधकार व्याप्त हो जाता है। और श्रीहर्ष, वैसे तो, कान्यकुब्जेश्वर के सभा-पंडित थे, किन्तु, काश्मीर में इनकी कविता का भी बड़ा मान था।

'विक्रमांकदेवचरित' के रचयिता बिल्हण और 'राजतरंगणी' के रचयिता कल्हण बारहवीं सदी में हुए हैं। ये दोनों ग्रन्थ ऐतिहासिक महाकाव्य हैं और ये दोनों कवि काश्मीरी थे।

यदि काव्याचार्यों के नामों पर विचार किया जाय तो वामन, उद्भट, रुद्रट, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, कुंतक, महिम भट्ट, मम्मट, क्षेमेंद्र और रुय्यक, ये सभी आचार्य काश्मीरी मिलते हैं। यही नहीं, प्रत्युत्, संभावना यह है कि काव्यालंकार के रचयिता स्वयं भामह भी काश्मीर के रहे होंगे। यदि यह बात सत्य हो तो यह मानने में कोई असुविधा नहीं दीखती कि भरत के बाद, काव्यशास्त्र पर सुगंभीर चिंतन का प्रारम्भ काश्मीर में ही हुआ और वहीं वह अपने चरम विकास पर भी पहुँचा। काश्मीर के लिए यह कितने गौरव की बात

है कि भारतीय काव्यशास्त्र के क्षेत्र में जो सात सर्वश्रेष्ठ नाम हैं (अर्थात् भामह, वामन, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, कुंतक, मम्मट और क्षेमेन्द्र) वे सातों के सातों काश्मीरी थे। कहते हैं, महाभाष्य-प्रदीप के लेखक कैयट और वेदभाष्य के कर्त्ता उब्बट भी काश्मीरी थे, प्रत्युत्, वे आचार्य मम्मट के छोटे भाई थे।

संस्कृत की धारा के अवरुद्ध हो जाने पर काश्मीर में हमें वह धारा दिखायी देती है जो जनता के मस्तिष्क नहीं, हृदय की धारा है। इस धारा का संस्कृत से कोई सम्बन्ध नहीं है, प्रत्युत्, अब वह काश्मीर की जनवाणी में प्रवाहित होती है तथा उसके भीतर हम जन-हृदय के उन सभी भावों की सहज अभिव्यक्ति पाते हैं, जो प्रेम और विरह के भाव हैं, जो प्राकृतिक सुषमाओं पर रीझने अथवा अगम और अगाध पर चकित होने के भाव हैं।

जब भारत में सूफी काव्यों की परंपरा आरंभ हुई, ठीक उन्हीं दिनों, काश्मीर में लल्लेश्वरी का जन्म हुआ। लल्लेश्वरी या लाल दे शैव मतावलम्बिनी थीं और उनके गुरु का नाम सिद्ध श्रीकंठ था। लल्लेश्वरीजी के माता-पिता श्रीनगर से चार मील दूर पन्द्रानथान में रहते थे, किन्तु, उनके पति पद्मपुर के वासी थे। ऐसा प्रतीत होता है कि लल्लेश्वरी की भगवद्भक्ति उनके पति को पसन्द न आयी और उनका वैवाहिक जीवन उसी प्रकार दुःखमय हो गया, जैसा उनके बाद भारत में मीराबाई का होनेवाला था। लाल दे की अनुभूतियाँ वैसी ही वेधक और मार्मिक हैं, जैसी वे मीरा में दिखायी

देती हैं। प्रत्युत्, कहना चाहिए कि दक्षिण की अोन्दाल, राजस्थान की मीरा और काश्मीर की लल्लेश्वरी, ये तीनों कवयित्रियाँ एक ही व्यथा से व्यथित हैं और उनकी कविताओं से जो शिक्षाएँ निकलती हैं, वे भी परस्पर समान हैं।

लल्लेश्वरीजी का काश्मीर में बड़ा नाम है और उनकी कविताओं पर क्या हिन्दू और क्या मुसलमान, सभी एक समान भक्ति रखते हैं। कबीर की कविता जैसे बानी और शब्द नाम से प्रचलित है, वैसे ही, लाल दे की कविताओं को वाक्य कहते हैं एवं उनके कितने ही वाक्य काश्मीर की सारी जनता की जिह्वा पर चढ़े हुए हैं। लल्लेश्वरी काश्मीरी कविता की परम देवी हैं और उनका आदर काश्मीरी-भाषी जनता के बीच उसी प्रकारसे है, जैसे जातियों के संस्कार की रचना करनेवाले कवियों का हुआ करता है। अंगरेजी में उनकी कविताओं के जो स्फुट अनुवाद मेरे देखने में आये हैं, उनमें से कई पदों में रहस्यवाद की पूरी गहराई दिखायी पड़ती है। एक पद जो मुझे बहुत पसन्द आया, हिन्दी-अनुवाद में इस तरह उतरा है :—

> **मूर्त्ति पत्थर की होती है, और मन्दिर भी पत्थर का,**
> **दिखायी पड़ता है क्या तुम्हें पन्थ इनमें अपने घर का ?**
> **मूर्त्ति के नीचे है जो छिपा, वही मन्दिर के बाहर व्याप्त,**
> **बुद्धि आत्मा, दोनों का भेद, अरे ओ पंडित ! करो समाप्त ।**

लाल दे के समय में एक और रहस्यवादी सन्त हुए जिनका नाम शेख नूरुद्दीन था, किन्तु, जिन्हें हिन्दू और मुसलमान, प्रेम से, नन्द ऋषि कहते थे। इस सन्त का नन्द ऋषि नाम आज भी

चलता है, जो इस बात का प्रमाण है कि काश्मीर में हिन्दुओं और मुसलमानों की सामासिक संस्कृति खूब बढ़ी है। इनका एक नाम सहजानन्द भी था। नन्द ऋषि बचपन से ही सन्त स्वभाव के थे और वय आने पर उन्होंने घोर तपश्चर्या भी की थी। तपस्या से लौटने पर उनके भीतर काव्य फूट पड़ा तथा सभी रहस्यवादियों के समान उन्होंने धर्म के बाह्याचारों को तुच्छ बताना शुरू किया। पंडों, पुरोहितों और मुल्लाओं की उन्होंने आलोचना करनी आरंभ की तथा वे मनुष्य को आचार से निर्मल बनने का उपदेश देने लगे। धर्माचार्यों पर उन्होंने अच्छी फब्तियाँ कसी हैं। एक कविता में वे कहते हैं, "एक पुरोहित को मैंने यज्ञ की आग फूँकते देखा और दूसरे को ढोल बजा-बजाकर उपदेश देते हुए। किन्तु, ये स्वयं क्या करते हैं? इनके माथे पर बड़ी-बड़ी पगड़ियाँ होती हैं और राह में वे बड़ी सजधज से चलते हैं। लेकिन, धर्म का वेश धारण करने पर भी वे बकरे के मांस पर टूटे पड़ते हैं और चलते समय वे मांस पकाने का बरतन भी नहीं छोड़ते।"

काश्मीर में हिन्दू-मुस्लिम-प्रेम की जो परंपरा है, उसका एक सबूत यह भी है कि नन्द ऋषि की स्मृति में होनेवाले वार्षिक पर्व के समय उनके जन्म-स्थान के हिन्दू और मुसलमान, पर्व की अवधि तक, मांस नहीं खाते हैं।

नन्द ऋषि मस्त फकीर थे और अपनी फकीरी को वे अमीरी से बढ़कर मानते थे। उनके एक पद का हिन्दी-अनुवाद इस प्रकार है :—

गुफा हमारी सुन्दरतर है स्वर्गिक राज भवन से,
जीर्ण-शीर्ण कंथा कोमलतर है रेशमी वसन से।
जीव-जन्तुओं से हिलना-मिलना हमको भाता है,
इसी खेल में वर्ष एक पल भर में कट जाता है।

इन दो कवियों की कविताएँ ज्ञानदायिनी हैं। किन्तु, इनके बाद, काश्मीरी भाषा में दो ऐसी कवयित्रियाँ उत्पन्न हुईं, जिनमें ज्ञान नहीं, आनन्द की धारा प्रधान मिलती है और, दोनों की दोनों, विरह और विपत्तियों में तपकर इतनी मार्मिक कविताएँ कर गयी हैं कि वे आज भी पढ़ने और सुननेवालों का हृदय हिला देती हैं। इनमें से एक का नाम अरिन माल और दूसरी का हब्बा खातून था।

अरिन माल किसी विद्वान् ब्राह्मण की पत्नी थीं। किन्तु, ऐसा दीखता है कि किसी कारण उन्हें विरह की असह्य वेदना सहनी पड़ी थी, जिसकी चोट उनकी प्रत्येक कविता में विद्यमान है। और प्रकृति-प्रेम उनका ऐसा उन्मुक्त था कि उनकी वेदना फैलकर सर्वत्र काश्मीर के फूलों और पहाड़ों में छा गयी है।

"सखी! एक दिन मैं प्रस्फुटित जुही के समान थी। किन्तु, प्रेम में घुल-घुलकर मेरा यह हाल हो गया कि अब मैं अरनी के गुलाब-सी दीखती हूँ। आह! मेरे प्रियतम फिर कब मेरे पास आयेंगे?

"भोर हो गया। अरी, ओ, जल्दी उठो; जब तक दिन नहीं चढ़ता, हम अपने प्रियतम की खोज में पर्वतों और घाटियों

को छान डालें। मैं उन्हीं की प्रतीक्षा में आँख खोले बैठी हूँ। न जाने मेरे प्रियतम कब फिर मेरे पास आयेंगे!"

हब्बा खातून गाँव में जन्मी थीं, किन्तु, उनके रूप और उनकी प्रतिभा ने उन्हें युसुफ शाह चक की रानी बना दिया। किन्तु, यह सौभाग्य टिकाऊ न हो सका और वे तुरंत विरह और विपत्ति की उस भँवर में गिरफ्तार हो गयीं, जो अनेक महान नारियों को अपनी गोद में लेती रही है। फिर तो उनके आँसू उनकी कविताओं में इस तरह उमड़े कि उन्हें पढ़कर सहृदयों को आज भी रोना आता है। और ये सहृदय विशेषकर वे हैं जो खेतों में हल अथवा डल या वुलर झील में नाव चलाते हैं। हब्बा खातून की कविता काश्मीर का हृदय है। संपूर्ण इतिहास में काश्मीरी भाषा ने उनसे और बड़ा कवि उत्पन्न नहीं किया। वे सच्चे अर्थों में जनता की कवयित्री हैं और उनकी कविताएँ काश्मीर की सभी श्रेणियों के लोगों में व्याप्त हैं। हब्बा की कविताओं में जो ध्वनि और संकेत मिलते हैं, वे प्राणों को कचोट डालनेवाले हैं।

"दूर-दूर तक के चारागाह (मर्ग) फूलों से खचाखच भर गये और तब भी तुम्हें मेरी वेदनाओं का ज्ञान न हुआ?

"पहाड़ फूलों से भर गये। झीलों में फूल ही फूल दिखायी देते हैं। आओ, ऐसे में हम पहाड़ी मर्गों (चारागाहों) पर घूमने को चलें।

"दूर के जंगलों में कमल पुष्पित हो रहे हैं। क्या अभी भी मेरी वेदना तुम्हारी समझ में नहीं आती?"

काश्मीरी कविता हब्बा खातून में अपने चरम विकास पर पहुँची, किन्तु, उसका प्रवाह वहीं अवरुद्ध नहीं हुआ। उन्नीसवीं सदी में काश्मीर में महमूद गामी नामक कवि हुए जिन्होंने प्रेम-कथाओं पर प्रबन्ध-काव्यों की रचना की। शीरीं-फरहाद और युसुफ-जुलेखा पर विरचित उनके दो काव्य काश्मीर में काफी प्रसिद्ध हैं। उन्नीसवीं सदी में ही काश्मीरी के एक दूसरे कवि पंडित प्रकाश राम ने काश्मीर में रामायण लिखी, जो बहु-प्रशंसित काव्य है।

वर्त्तमान सदी के काश्मीरी के सब से बड़े कवि महजूर माने जाते हैं। दुर्भाग्यवश अब उनका भौतिक शरीर धरा-धाम पर नहीं है, किन्तु, उनका यश:काय अभी शताब्दियों तक जीवित रहेगा। सन् १९५१ ई० में मुझे उनसे मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। वे अपनी कविताएँ बड़ी मस्ती से सुनाते थे। रवि बाबू जब काश्मीर गये थे तब महजूर साहब ने उनसे भेंट की थी और महजूर की कविताएँ सुनकर रवि बाबू ने कहा था, आप काश्मीर के टैगोर हैं। यह कहानी मुझसे महजूर साहब ने ही कही थी। महजूर के समकालीन एक अन्य कवि आजाद साहब थे। वर्त्तमान सदी के कवियों में उनका भी बड़ा नाम है।

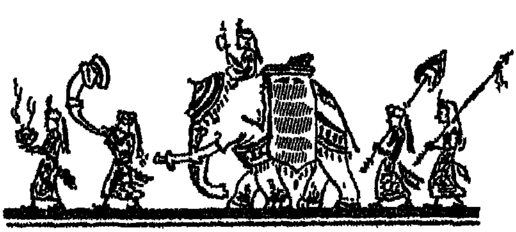
काश्मीरी के वर्त्तमान प्रतिष्ठित कवियों में पंडित जिन्दा कौल, मिरजा गुलाम हसन बेग आरिफ और श्री दीनानाथ नादिम मुख्य रूप से उल्लेखनीय हैं। पंडित जिन्दा कौल श्रीनगर भर में सब के श्रद्धाभाजन हैं। उनकी कविताओं पर

इस वर्ष साहित्य अकादमी ने पाँच हजार रु० का पुरष्कार भी दिया है।

और नादिम साहब भी बड़े ही प्रतिभाशाली कवि हैं। श्रीनगर में उनकी एक कविता मुझे उन्हीं के मुख से सुनने को मिली। मूल की भाषा तो मैं कुछ भी न समझ सका, किन्तु, नादिम साहब ने उसका जो अर्थ बताया, उससे मैं अत्यन्त प्रभावित हुआ। काश्मीरी भाषा सहज, सुकुमार और संकेतपूर्ण है। उसमें अभी कृत्रिमता का प्रवेश नहीं हुआ है। और काश्मीरियों का जीवन भी अभी काव्यमय है। इसी लिए, काश्मीरी भाषा में आज भी हृदय हिलानेवाली कविताएँ की जा सकती हैं।

हरियालियों की पगड़ियाँ बाँधे ऊँचे-ऊँचे पहाड़, राह में उछलते-गाते हुए निर्मल झरने और झीलों में राशि-राशि कमलों के कुंज, ये सब मिलकर काश्मीर को सपनों का देश, कविता का लोक बना देते हैं और वहाँ की कविता भी हरी, कोमल, उज्ज्वल और झरनों के समान ही स्फूर्तियुक्त है।

१९५६ ई०]



मेरी यूरोप-यात्रा

१. बम्बई से लंदन

१२ नवंबर, १९५५ ई०को पटने में शिक्षा-मंत्रालय की ओर से अचानक तार मिला कि आप १९ नवंबर को वारसा जाने की तैयारी कर सकते हैं या नहीं। ठीक उसी समय मैं अपने पूर्वनिश्चित कार्यक्रम के अनुसार दिल्ली रवाना हो रहा था। १४ नवंबर को दिल्ली में पूज्य पंडितजी के जन्मदिवस का समारोह था। प्रधान मंत्री के घर पर श्रद्धेय डा० राधाकृष्णन् से भेंट हुई। उन्होंने मिलते ही पूछा, "वारसा तुम जा रहे हो न?" मैंने सहमते हुए कहा, "यूरोप देखने की इच्छा तो अवश्य है। किन्तु, आप तो तुरंत जाने को कहते हैं। मैं कभी बाहर निकला नहीं हूँ। सोच रहा हूँ कि क्या करूँ।"

उपराष्ट्रपति के मुख से निकला, "स्कैंडलस! पोलैण्ड ने बड़ी ही आजिजी से भारत को अपना प्रतिनिधि भेजने को कहा है। निमंत्रण मैंने मैथिलीशरणजी और श्री वल्लाथोल को भिजवाये थे। किन्तु, वे लोग जाने में असमर्थ हैं। और अब अगर तुम भी अंग गिरा देते हो, तो यह कैसी बात होगी?"

पंडितजी वार्तालाप सुन रहे थे। अतएव, उन्होंने कहा, "ठीक ही तो कहता है। और जाने के पहले पचासों सूइयाँ कब लेगा?"

मगर, उपराष्ट्रपति चुप नहीं हुए। वे कहते ही गये कि कोई न कोई भारतीय प्रतिनिधि जाना ही चाहिए। मैं मन से तैयार तो था ही। शिक्षा-मंत्रालय को मैंने यात्रा की तैयारी करने को कह दिया और स्वयं भी सामग्रियाँ जुटाने लगा। दो-एक दिन बाद उर्दू के प्रसिद्ध कवि सागर निजामी के जाने का भी कार्यक्रम ठीक हो गया। इस प्रकार, हमारी विदेश-यात्रा १६ के बदले २२ नवंबर, १६५५ ई० को आरम्भ हुई।

मगर, अपना देश छोड़ना कोई मामूली बात नहीं है। पास-पोर्ट, विजा और इनकम-टैक्स क्लियरेंस आदि कागजों के साथ अनेक और प्रतिबन्ध भी हैं, जिन्हें पूरा किये बिना आप अपना देश नहीं छोड़ सकते। मेरी यात्रा का तो सारा प्रबन्ध शिक्षा-मंत्रालय ने किया। कहीं स्वयं मुझे ही सारी पैरवी करनी होती, तो मुझ से तो विदेश आना पार नहीं लगता।

हम दिल्ली से परसों शाम को रवाना हुए। बम्बई में एयर इंडिया इन्टरनेशनल का जहाज पकड़ा। जहाज बम्बई से कोई ग्यारह बजे रात में उड़ा था। रास्ते में हम मजे से सो गये। हवाई जहाजवाले यात्रियों को बड़ा आराम देते हैं। कुर्सी के आगे उन्होंने पैताना बना दिया, शरीर पर खूब मुलायम कंबल उढ़ाया और जब हमें नींद आने लगी, उन्होंने पास की बत्ती भी गुल कर दी। सुबह जगकर हम हाथ-मुँह धोकर जब तक तैयार हुए, तब तक जहाज काहिरा (कैरो) पहुँच रहा था।

भूगोल में पढ़ा था कि सूर्य पूरब में पहले और पश्चिम में बाद को दिखायी देता है एवं इसी हिसाब से समय भी पूरब में आगे रहता है। सो इसका सबूत कैरो में पाया। कैरो पहुँचने पर देखा कि हमारी घड़ी में दस बज रहे हैं जबकि कैरो में सुबह छह का वातावरण था।

हवाई यात्रा, स्वभाव से ही, जरा संकट की यात्रा होती है और मुझ-जैसे डरपोक लोग जब भी हवाई जहाज पर कदम धरते हैं तब यह तो सोच ही लेते हैं कि आज तक तो जी लिया। अब अगर आगे भी जीना होगा तो जहाज सकुशल धरती पर लौट आयेगा। शायद, यही भाव अधिकांश यात्रियों का होता होगा। इसीलिए, हवाई जहाज की मेजबाँ अत्यन्त सुशील और सब को दिलासा देनेवाली होती है। इसीलिए, हवाई जहाज में मनबहलाव के कागज रखे जाते हैं जिन्हें आप उलटते जाइये तो थोड़ा बहुत मनोविनोद आपसे आप होता चलेगा।

अपने एयर इंडिया इंटरनेशनल में जो कागज-पत्र हैं, वे मनोविनोदपूर्ण तो हैं ही, उन पर भारतीयता की भी पूरी छाप है। पंखों, इश्तेहारों और फाइलों पर इन जहाजों में आप को यामिनी राय की चित्रकारी के अनुकरण मिलेंगे, गरुड़, मोर, हनुमानजी, धनुष, परशु, वाराह, तिरुपति के बालाजी, शंख, चक्र आदि की आकृतियाँ मिलेंगी, जो आपको बराबर याद दिलाती रहेंगी कि आप अपने देश के वातावरण में हैं। एयर इंडिया इंटरनेशनल का प्रचार-साहित्य खूब सजीव है। हमारा

ट्रेड मार्क कलँगीदार पगड़ी बाँधे हुए नवाब का चित्र है। कहीं तो यह नवाब सिर झुकाकर यात्रियों का स्वागत कर रहा है और कहीं वह आपके मनबहलाव के लिए लड़कियों के पीछे भाग रहा है। एक चित्र में यह भी देखा कि जहाज से उतरते समय एक यात्री महाशय मेज़बाँ का आलिंगन कर रहे हैं। उधर वह मेजबाँ उन्हें आलिंगन में फँसाकर उनकी जेब की तलाशी ले रही है और उसमें से चम्मच और काँटे बरामद कर रही है। यह मज़ाक मुझे खूब पसन्द आया। चेतावनी की इस मीठी सूझ की बलिहारी है! मैं खुद भी प्रचारक का काम कर चुका हूँ। किन्तु, इस तरह का चमत्कार मुझे नहीं सूझा था।

काहिरा से उड़कर हम रोम आये, रोम से उड़कर जिनेवा और जिनेवा से उड़कर लंदन। रास्ते में विशेष रूप से उल्लेखनीय कोई बात नहीं हुई। रोम से उड़कर जब हम जिनेवा आ रहे थे तब रास्ते में चालक ने बताया कि अब हम एलबा द्वीप पर से जा रहे हैं। उस समय मेरी घड़ी में अपराह्न का ७-५० बजा था और जहाज की घड़ी में २-१५ हुआ था। एलवा द्वीप में आबादी नहीं दिखायी पड़ी। केवल पहाड़ ही पहाड़ नजर आये। किन्तु, मनमें यह वात उग आयी कि इसी बंजर द्वीप में नेपोलियन कैद किया गया था। एक जनश्रुति चलती है कि जब नेपोलियन यहाँ कैद था, किसी ने उससे कहा कि इस जेल से भाग चलो। कहते हैं, उस समय नेपोलियन ने अंगरेजी में एक वाक्य कहा था, ABLE WAS I ERE

I SAW ELBA। इस वाक्य को सीधे पढ़िये या उलट कर, बात एक ही बनती है। यहाँ से आगे माउण्ट ब्लैंक आया, जो मध्य यूरोप का प्रसिद्ध पहाड़ है। उस समय मेरी घड़ी में पौने नौ बजा था, किन्तु, पहाड़ पर अभी अच्छी धूप फैल रही थी।

जहाज में मेरे बायें साग़र बैठे थे और उनके बायें एक यहूदी दंपति। जहाज जब लंदन पहुँचने को हुआ, हम लोग अपना सामान ठीक करने लगे। इतने में साग़र ने कहा कि मेरा गुलूबन्द ग़ायब है और इतना ही नहीं, उन्होंने और भी कुछ कहा, जिसे बायें के मुसाफिर इसलिए नहीं सुन सके कि हम हिन्दी में बोल रहे थे।

इस घटना का वर्णन मैं इसलिए कर रहा हूँ कि साग़र बिलकुल असावधान व्यक्ति हैं। जानें, इस यात्रा में वे क्या-क्या खोयेंगे। कल मैंने जहाज में ही उनसे कहा था कि अपनी चीजों का ख्याल रखिये, क्योंकि सब कुछ तो छोड़कर ही चले हैं। अब तो हर चीज जरूरी ही साथ है। मगर, लंदन हवाई अड्डे से कोई तीस मील दूर जाकर जब हम रात होटल में उतरे, तब सोने के समय साग़र अचानक चीख उठे, "हाय, मैं तो अपना बैग ही मोटर में भूल आया।" क्या करता? उतनी रात को मैंने होटल के मैनेजर को जगाया और उस बेचारे ने हवाई अड्डे के अफसर को फोन किया कि एयर इंडिया की मोटर में भारत के एक यात्री का बैग रह गया है।

हमें बड़े भोर ब्रुसेल्स का जहाज पकड़ना था, अतएव, पौ फटते ही हम हवाई अड्डे पर पहुँचे। किन्तु, वाह रे अंगरेज जाति के चरित्र! हम अड्डे पर पहुँचे ही थे कि एक व्यक्ति सागर का बैग लिये हुए उसकी खोज में घूम रहा था। सागर की जान में जान आयी और हम अंगरेज जाति की ईमानदारी एवं अंगरेज अफसरों और कार्यकर्त्ताओं की अद्भुत कर्तव्यनिष्ठा पर दंग रह गये।

ब्रुसेल्स (बेलजियम)
२४ नवंबर, १९५५ ई०

२. लंदन से वारसा

२४ नवंबर को हम कोई साढ़े आठ बजे प्रातःकाल लंदन से ब्रुसेल्स के लिए उड़े। जिस कंपनी के जहाज में हमने यात्रा आरंभ की, उसका नाम सबीना है। जहाज अपेक्षाकृत छोटा था और मौसिम खराब, इसलिए, रास्ते में बंपिंग काफी हुई। मैं, प्रायः, मुरझा गया और कुछ-कुछ बीमार अनुभव करने लगा। जहाज में नाश्ते के लिए और चीजों के साथ भगवान के तृतीय अवतार का लाल-लाल मांस परोसा जाने लगा। दर्शन मात्र से मेरा जी मिचलाने लगा। मगर, करना क्या था? रोटी के एक टुकड़े के साथ एक प्याली काफी पीकर मैंने भी जलपान की विधि पूरी कर दी।

ब्रुसेल्स से वारसा की ओर पोलैंड का जहाज जाता है। इसलिए, वहाँ पहुँचकर हम जहाज से उतर गये। किन्तु,

दफ्तर में पूछने पर पता चला कि वारसा जानेवाले जहाज में हमारे लिए जगहें सुरक्षित नहीं हैं। श्री वान जीन नामक एक हवाई अफसर ने हमें यह सूचना दी। हम तो यह सुन कर घबरा गये। २४ नवंबर की शाम तक हमें वारसा अवश्य पहुँच जाना था, अन्यथा, २५ नवंबर से वारसा में जो कार्यक्रम आरंभ हो रहा था, उसमें हम सम्मिलित नहीं हो सकते थे। जब वान जीन को यह मालूम हुआ कि हम पोलिश सरकार के अतिथि होकर वारसा जा रहे हैं, उस बेचारे ने काफी तत्परता दिखायी। एक ओर तो उसने जहाज के कैप्टन को फोन किया, दूसरी ओर बेलजियम-स्थित पोलिश डेलीगेसी को। पता चला कि भारत की भी एक डेलीगेसी ब्रुसेल्स में है। इसलिए, मैंने भी अपनी डेलीगेसी को फोन किया। किन्तु, फोन पर अपनी डेलीगेसी से जो बातें हुईं, उनसे इस विषय में कोई सन्देह नहीं रह गया कि हमारा देश भारत से बाहर होने पर भी भारत ही रहता है। निदान, मैं हतोत्साह होकर अपनी जगह पर आ बैठा। इतने में जीन वान की कोशिश काम कर गयी और पोलिश डेलीगेसी से एक नवयुवक हमें खोजता हुआ हमारे पास आ पहुँचा। उसने जीन वान के द्वारा हमें कहलवाया कि पोलैंड के दो यात्रियों को ब्रुसेल्स में रोक कर उसने हम दोनों के लिए दो जगहों का प्रबन्ध कर दिया है। मेरा हृदय कृतज्ञता से भर गया तथा भारत और पोलैंड के सरकारी प्रतिनिधियों के बीच तुलना करके मैं, मन ही मन, कुछ लज्जित भी हुआ।

कोई ढाई बजे दिन में हम पोलिश जहाज से वारसा के लिए उड़े। एयर इंडिया और सबीना, दोनों कंपनियों के जहाज बाहर से भी खूब सूरत और स्वच्छ दिखायी देते हैं। किन्तु, यह पोलिश जहाज कुछ कुरूप-सा लगा। यात्रा, प्रायः, भयानक लगी। मौसिम खराब था। हम बादलों से ऊपर उड़े जा रहे थे और नीचे सारा यूरोप धुओं से आच्छन्न था। बंपिंग बड़े जोर की थी। मेरा सिर चक्कर खाने लगा। ऐसे में भला कोई भोजन क्या करे? ज्यों-त्यों करके मैं अपने को सँभालता रहा। इतने में कोई पाँच बजे शाम को जहाज बर्लिन में उतरा। बर्लिन के हवाई अड्डे पर ही देखा कि भेंड़ और बकरी के बथान अलग-अलग हैं। एक ओर अमरीकी झंडों की कतार थी, दूसरी ओर रूसी झंडों की पाँत। वातावरण धुमैला और ईषत् अंधकारपूर्ण था तथा वर्षा भी हो रही थी।

बर्लिन के हवाई अड्डे पर हम पौन घंटा टिके होंगे। इस बीच, मैं चिट्ठी छोड़ने को हवाई अड्डे के डाकघर में गया। वहाँ जाकर क्या देखता हूँ कि काउण्टर पर एक लड़की खड़ी काम कर रही है। उसके चेहरे पर असीम विषाद की छाया दिखायी दी। मैं उसे सिर से पाँव तक निहारने लगा। उसके बदन पर कोट तो था, किन्तु, पाँव में मोजे नहीं थे। पाँव में मोजे का न होना हमारे देश के लिए कोई बात नहीं है। किन्तु, यूरोप में मैंने किसी भी व्यक्ति का पाँव नंगा नहीं देखा है। यह जाड़े का मौसिम है। बिना मोजे के यहाँ कौन

चल सकता है ? इसके पाँव में मोजे नहीं हैं, यह सोचते-सोचते मेरे मन में एक बात उठी कि, हो न हो, यह पूर्वी जर्मनी की व्यथा की निशानी है। लड़की ने, शायद, मेरे मन की बात ताड़ ली। अतएव, वह अपने मनोभावों को छिपाने की कोशिश करने लगी। उसके चेहरे पर घबराहट अंकित हो गयी और मैं तुरंत वहाँ से हट गया।

कोई छह बजे के लगभग हम बर्लिन से उड़े। अब तो चारों ओर पूरा अंधकार था और अँधेरे के भीतर हम लिफाफे में बन्द जीव के समान उड़े जा रहे थे। वही बंपिंग, वही थकान, वही मिचलाहट। दबे-दबे मेरी आँख लग गयी और मैं सो गया। न जानें कितनी देर सोता रहा कि अचानक साग़र ने आवाज़ दी, "उठिये। हम वारसा आ गये।"

वारसा के हवाई अड्डे पर हमें लेने को कई साहित्यिक आये हुए थे। उनमें से अंगरेजी केवल प्रोफेसर ओलगियर्थ जानते हैं, जो कल से हमारे साथ हैं। कई लोगों ने पुष्प-गुच्छ दिये, कइयों ने हाथ मिलाये और कइयों ने सिर झुका कर हमारा अभिवादन किया। अड्डे के स्टेशन पर वारसा रेडियो के आदमी आये हुए थे। उन्होंने हम दोनों से कुछ संदेश माँगे। मैंने अपनी और साग़र की ओर से दो-चार बातें कहीं, जिन्हें उन्होंने रेकार्ड कर लिया। कुछ पत्रकार भी आये हुए थे। वे ही बातें मैंने उनके समक्ष भी दुहरा दीं।

वारसा में हम होटल ब्रिस्टल में ठहराये गये हैं। यहाँ के सारे ठाट-बाट राजसी हैं। होटल बहुत बड़ा है। कई

तल्ले हैं। हम चौथे तल्ले पर रखे गये हैं और लिफ्ट क्षण-क्षण चालू दीख रहा है। कालीनों और परदों को देखकर तो यही लगता है कि पोलैंड से बढ़कर धनी देश और नहीं होगा। मगर, रात ही एक सज्जन कह रहे थे, पोलैंड तो यूरोप का गाँव है। सोचता हूँ, जहाँ का गाँव ऐसा है, वहाँ के नगर कैसे होंगे। नगर यानी लन्दन, पेरिस और जिनेवा तथा मास्को। मास्को जाना तो नहीं होगा, लेकिन, बाकी शहर तो देखकर ही लौटेंगे।

हमारे पास जो ट्रैवलर्स चेक हैं, वे यहाँ चलेंगे या नहीं, यह नहीं जानता। यहाँ आते ही स्वागत-समिति ने पहला काम यह किया कि हम दोनों में से प्रत्येक को सात-सात सौ रुपये (यहाँ रुपये का नाम स्लोती है) दे दिये। ये दो सप्ताह के लिए काफी होंगे।

कल रात वारसा नगर क्या देखता? केवल होटल देख कर ही दंग रह गया। हाँ, रास्ते में जो संस्कृति-मंडप (पैलेस आव् कलचर) दिखायी पड़ा, उसका प्रभाव बड़े जोर का है। और नहीं तो पचास तल्ले तो होंगे ही। और कैसा सुन्दर वह दीख रहा था बिजली के आलोक में! कहते हैं, यह भवन रूस का बनवाया हुआ है।

आज प्रोफेसर ओलगियर्थ आये तब मैंने उनसे कहा कि अब नगर देखने को जी चाहता है। वे बोले, "जहाँ जी चाहे, जाइये। आदमी साथ रहेगा। इसलिए नहीं कि कानून से यह आवश्यक है, बल्कि, इसलिए कि इससे आपको सुविधा

रहेगी।" मुझे लगा, मानों, वे इस संदेह का खंडन कर रहे हों कि लौह-प्राचीरवाले देशों में विदेशी यात्रियों के भ्रमण पर रोक रहती है।

प्रोफेसर ओलगियर्थ ने आज एक नये दुभाषिये से परिचय कराया। इनका नाम देम्बोस्की है। ये चीन में पाँच वर्ष तक रह चुके हैं। कुछ-कुछ खांडु हो चले हैं, मगर, उम्र तीस से ऊपर नहीं होगी। वे चीनी जानते हैं और चीनी प्रतिनिधि से उसकी मातृभाषा में ही बात करते हैं।

ओलगियर्थ को भारत के विषय में पुस्तकीय ज्ञान काफी है। विचित्र बात है कि हिन्दी-उर्दू-विवाद के विषय में भी उन्हें थोड़ा-बहुत मालूम है। बात निकली तो देम्बोस्की बोल उठे कि "चीन की कठिनाई यह है कि बोलनेमें चीनी भाषाएँ परस्पर दूर हो जाती हैं, किन्तु, लिखी जाने पर वहाँ की सभी भाषाएँ सब की समझ में आ जाती हैं। किन्तु, हिन्दी और उर्दू ये बोली जाने पर समान हैं। केवल लिखी जाने पर वे दो भाषाएँ हो जाती हैं"।

ओलगियर्थ और देम्बोस्की को मैंने भारत की कई बातें बतायीं, जिनसे उनका भ्रम दूर हुआ। प्रसन्नता होती है कि ये लोग विदेश के बारे में इतनी अच्छी जिज्ञासा रखते हैं। फिर किंचित् घबराहट भी होती है कि बाहर की दुनिया तो इतनी जागरूक और सावधान है, मगर, हम भारतवासी कैसे हैं? कितने लोग हैं अपने देश में, जो अन्य देशों के बारे में इतनी जानकारी जमा करना चाहते हैं? और यदि बाहरवालों के

विषय में अच्छी जानकारी रखनेवालों की संख्या अपने देश में न बढ़ी तो क्या इससे हमारे देश की हानि नहीं होगी ?

यूरोप को देखकर भारतवर्ष के संबन्ध में विकलता का बोध होता है। देश का बहुत बड़ा होना गुण भी है और दोष भी।

वारसा
२५-११-५५

३. वारसा की डायरी

२६-११-५५

कल नाश्ते पर एक अधेड़ पोलिश महिला से परिचय हुआ जो अंगरेजी जानती हैं। उनके जरिये हंगरी के एक वयस्क कवि से बातें हुईं। उनका नाम, कदाचित्, सेबोक है। लंबे, गोरे, उम्र कोई ५५ साल की, शील, सौजन्य और अहिंसा की प्रतिमूर्ति। कौन कहेगा कि ये हिंसाप्रिय सिद्धान्तों के घेरे में होंगे ? वे बुडापेस्ट में रहते हैं। रवीन्द्रनाथ के प्रेमी हैं। रवीन्द्रनाथ ने बुडापेस्ट में रहकर कुछ कविताएँ लिखी थीं, यह बात उन्होंने बड़े ही गौरव से सुनायी। फिर कहने लगे, "मेरा देश तो आपके देश से बहुत छोटा है, किन्तु आपके देश की परंपरा का हम लोग बहुत आदर करते हैं।"

नाश्ते पर ही रूमानिया के एक कवि और इटली की एक कवयित्री से परिचय हुआ। कवयित्री बिलकुल छोटी-सी

मैना है और उसके मुख से गद्य भी गीत बनकर निकलता है। रवीन्द्रनाथ की रचनाओं से परिचय इन लोगों ने भी दिखाया। रवि बाबू देश के सुयश को खूब बढ़ाकर गये हैं। क्या जानें, रवीन्द्रनाथ के देशवासी होने के कारण ही हम लोग भी उचित से अधिक सम्मान पा रहे हों।

"कुरुक्षेत्र" के षष्ठ सर्ग का अंगरेजी अनुवाद साथ था। मैंने एक-एक प्रति सभी को भेंट कर दी। और तब कल शाम को रूमानिया के कवि ने भी अपनी एक पुस्तक लाकर मुझे भेंट की। यह पद्य-नाटक है। मगर, मैं तो उसे समझ नहीं सकता। फिर भी साथ ले जाऊँगा।

कल नाश्ते के बाद हम म्युजियम देखने गये। कवि मित्स्केविच के सम्बन्ध में ही यह म्युजियम सजाया गया है। कवि के जीवन की घटनाएँ चित्रों में दिखायी गयी हैं। यही इस म्युजियम की प्रधान सजावट है। म्युजियम का समारोह अच्छा रहा। उद्घाटन देश के संस्कृति-मंत्रीजी कर रहे थे। उन्होंने म्युजियम के दरवाजे पर खड़े-खड़े ही भाषण दिया। तब सब लोग अन्दर गये।

म्युजियम में हम दोनों पर विशेष दृष्टि थी। वह, शायद, इस कारण कि हम खास ढंग की पोशाक में थे और चेहरों से हम साफ भारतवासी मालूम होते थे। हमें देखकर आपस में लोग कुछ बोलते थे जिसमें बार-बार "प्रीमियर नेहरू", यह नाम आता था। हम लोगों की फिल्म और फोटो कई बार, खास तौर से, लिये गये। बाहर निकला तब बच्चों ने आटोग्राफ

के लिए घेर लिया। ग़रज कि भारत नाम की फसल बहुत अच्छी कट रही है।

फिर हम बाजार देखने गये। किन्तु, त्राहि! त्राहि!! जूते का दाम एक हजार स्लोती, मनीबैग का साढ़े तीन सौ, ओवरकोट के दो हजार और वैनिटी बैग के साढ़े तीन सौ स्लोती। यह अर्थ-विधान भी कितना विचित्र है!

रास्ते में मेहतर, गाड़ीवान और कोयले के मजदूर देखे, जो भारत के समान ही गरीब लगते थे। एक जगह सड़क पर गन्दगी भी देखी। पोलैण्ड स्वच्छता में भारत से थोड़ा ही श्रेष्ठ है। मगर, श्रेष्ठ जरूर है।

अदम मित्स्केविच के शती-समारोह का पहला उत्सव कल शाम को संस्कृति-मंडप में हुआ। इसमें पचास देशों के साहित्यकार और कोई साढ़े तीन हजार दर्शक आये हुए थे। संस्कृति-मंडप के जिस हाल में यह आयोजन हुआ, वह नीचे से ऊपर तक खचाखच भरा हुआ था। मंच पर अपने सहयोगियों के साथ पोलैण्ड के राष्ट्रपति विराजमान थे। उनके एक ओर तो रूस के कवि श्चीपाचोव और दूसरी ओर फ्रांस के कम्युनिस्ट नेता कशाँ बैठे हुए थे। कामरेड कशाँ की आकृति शीतल, सौम्य और पवित्र है। वे बूढ़े हैं, अत्यन्त बूढ़े हैं और मूँछें वे ग्रामीण के समान कतर कर रखते हैं। वे जब मंच पर पधारे, सारी सभा तालियों से गूँज उठी। फिर, राष्ट्रपति ने प्रत्येक देश से आये हुए अतिथियों के नाम पढ़ने शुरू किये और हर नाम पर सभा निश्छल आनन्द से तालियाँ बजाती रही।

जब कामरेड कज़ाँ का नाम पढ़ा गया, सभा आनन्द से उन्मत्त हो उठी और तालियाँ इतनी देर तक बजती रहीं कि कामरेड कज़ाँ रोने लगे और बार-बार संकेतों द्वारा उन्होंने सभा से शान्त होने का अनुरोध किया।

फिर, अदम मित्स्केविच के सम्बन्ध में कई विद्वानों के भाषण हुए। भाषण पोलिश, फ्रेंच, रूसी और जर्मन भाषाओं में हुए और भाषणों के अनुवाद केवल पोलिश भाषा में सुनाये गये। कितनी शान्ति! कैसा सौजन्य! कितना उत्साह! लोग जो भाषा नहीं जानते उसमें दिये गये भाषणों को भी वे धीरज और शान्ति के साथ सुनते हैं। यह सच्चा राष्ट्रीय अनुशासन है। यह सच्चा अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य है। अपने देश की याद आयी। कितना भेद! वहाँ तो दिल्ली के लोग तमिल कविता के पाठ से ही अधीर हो जायेंगे और, सम्भव है कि कवि को कुछ क्लेश के साथ ही विदा करें।

कंसर्ट, गान और अदम मित्स्केविच की कविताओं के पाठ को लेकर यह उत्सव काफी देर तक चला। स्करजंका नाम की एक अभिनेत्री ने तो काव्य-पाठ द्वारा पूरे घंटे भर अद्‌भुत समाँ बाँध दिया। ऐसा लगा, मानों, मित्स्केविच की पूरी पुस्तक ही उसे कंठ हो। न जानें, हमारी अभिनेत्रियों में साहित्य का यह संस्कार कब उत्पन्न होगा। अथवा सम्भव है, ऐसा संस्कार उनमें अभी भी विद्यमान हो और हम उसके उपयोग से वंचित चले जा रहे हों।

२७-११-५५

कल हम नगर देखने गये थे। वारसा यूरोप की प्रसिद्ध पुरानी राजधानियों में से एक है। अनेक शताब्दियों तक राजपुरी बने रहने से नगरों में एक प्रकार का गौरव और गंभीरता आ जाती है। वह लक्षण वारसा में भी विद्यमान है। वारसा ने पोलिश जाति के उत्थान-पतन की अनेक लीलाएँ देखी हैं। किन्तु, हिटलर के राज्यकाल में पोलिश जनता का जो विनाश हुआ वह पहले कभी नहीं हुआ था। उस रावण के राक्षसों ने लाखों पोलों को बेगुनाह मार डाला और आक्रमण के क्रम में पूरे नगर का विध्वंस कर दिया। नगर बहुत कुछ बन चुका है। किन्तु, रचना के काम अभी बहुत बाकी हैं। नगर का एकाध अंश ठीक उसी रूप में पुनर्निमित हुआ है जिस रूप में वह विनष्ट किया गया था। फिर भी, ध्वंस के कितने ही अवशेष ज्यों के त्यों खड़े हैं। नगर के हृदय-द्रावक ध्वस्त अंशों को देखकर बर्लिन हवाई अड्डे की वह बालिका याद आयी जिसके पाँव में मोजे नहीं थे। फिर यह भान हुआ कि उसके मोजे क्यों छीन लिये गये हैं। वारसा का ध्वंस राक्षसी वृत्ति का परिणाम है और उस बालिका के नंगे पाँव प्रतिशोध की गवाही। किन्तु, गाँधीजी इस काण्ड पर क्या कहते ?

हिटलर का क्रोध पहले यहूदियों पर टूटा था। उनका सफाया करके वह पोलों पर उतरा। नगर के उस भाग को भी देखा जहाँ पहले यहूदी रहते थे। यहूदियों के विनाश की

स्मृति में एक स्मारक बनाया गया है जो अत्यन्त भव्य है। मूर्त्तियों में एक ओर तो यहूदी जाति का संघर्ष खचित है, दूसरी ओर उसका ईश्वर के प्रति आत्म-समर्पण। क्या यही कम्युनिस्टों का ईश्वर-द्रोह है? मगर, पोलैण्ड कम्युनिस्ट था नहीं, लड़ाई के बाद हुआ है। अनुमान होता है कि कहीं न कहीं जाकर कम्युनिज्म भी उस परम्परा को स्वीकार कर सकता है, जिससे वह अभी भाग रहा है। नवनिर्माण की योजना के अनुसार नगर का अभी और प्रसार होगा जिसका नक्शा हमें समझाया गया। किन्तु, इस काम में अभी बीस वर्ष और लगेंगे।

राह में आते-जाते गाड़ीवानों को देखा। घोड़े छोटे, मोटे और पुष्ट हैं तथा उनके पाँव में लंबे-लंबे बाल होते हैं। कोचवान तोशक के पाजामे और कोट पहने हुए थे। बच्चे कनझप्पा टोपी पहनते हैं। यह जनता का निर्धन अंश है जो कम्युनिज्म के देश में भी मौजूद है। निर्धनता केवल प्रस्तावों से दूर नहीं की जा सकती। उसे हटाने के लिए वर्षों काम करना होता है। यह काम पोलैण्ड और भारतवर्ष, दोनों देशों में हो रहा है। किन्तु, इसके लिए समय चाहिए।

लौटते समय युवकों और युवतियों का एक जुलूस देखा जो कोई गीत गाता हुआ सड़क पर से जा रहा था। सब उत्साह से उच्छल, सब हँसमुख, सब प्रसन्न। सन् १९३०-३२ ई० की याद आयी जब युवकों में ऐसा उत्साह भारतवर्ष में भी था। मगर, अब अपने देश में वह बात नहीं रही। हमारे युवक

सरकारों से रुष्ट हैं। यहाँ लोग काम करने में विश्वास करते हैं, भारत में वे यह सोच रहे हैं कि काम हम तब करेंगे जब, न जानें, क्या हो चुकेगा। और भारत में भी जो लोग काम करना चाहते हैं, वे अपना अरमान कहाँ जाकर पूरा करें? अपने देश में तो हम, सब के लिए, काम का दरवाजा भी नहीं खोल सके हैं। पोलैण्ड को देखकर यह बात सूझती है कि हम भी जब काम करने लगेंगे तब राजनीति की बातें करना भूल जायेंगे। तत्परता अनुशासन से बढ़ती है और अनुशासन यहाँ रेजिमेंटेशन के अधीन है। तो क्या प्रजासत्ता का ढंग गलत है? मगर, मैंने आँखों से इस बात का प्रमाण तो नहीं देखा है कि यहाँ का सारा का सारा अनुशासन रेजिमेंटेड ही है। कम्युनिस्ट देशों के विषय में जो पूर्व धारणाएँ किताबों से बन गयी हैं, सम्भव है, उन्हीं के कारण ऐसा दिखायी पड़ रहा हो। सोचने से तो यही लगता है कि अनुशासनहीनता निन्द्य है, किन्तु, रेजिमेंटेशन उससे भी निन्द्य वस्तु है। मगर, सिविल लिबर्टी के नाम पर लोग बकवास करते रहें और काम न करें, यह कौन अच्छी बात है? प्रजासत्ता की सफलता के लिए भी यह जरूरी है कि हम अपने अधिकारों के साथ अपने कर्तव्यों को पहचानें।

विस्तुला नदी को देखा जो नगर के बीच से बहती है। जनवरी में यह नदी जम जायगी और लोग जूते पहनकर उस पर पैदल घूमेंगे। एक पार्क में छोटी-सी झील भी देखी, जिसका पानी जमने लगा है।

सड़कों पर बर्फ जमी हुई थी। हमारे शरीर पर भी बर्फ गिर रही थी। हवा ऐसी कि कान जड़ हो गये थे। हमने कई बार अपनी नाक यह जानने को छुई कि वह मौजूद है या नहीं। इतने कड़ाके की सर्दी है, फिर भी, काम करनेवाले काम कर ही रहे हैं। सड़कों पर जो लोग काम करते हैं, वे यहाँ भी मेजों पर काम करनेवालों के बीच किसी भी तरह खपाये नहीं जा सकते। सारी जनता अभी एकाकार नहीं हुई है।

आज नाश्ते पर पोलिश कवियों से बातें हुईं। मिश्र के नाटककार श्री अजीज अबाज़ा पाशा से भी वहीं परिचय हुआ। वे खुले दिल के खुशमिजाज आदमी हैं और हम लोगों से बात करने में औरों से अधिक दिलचस्पी लेते हैं। कह रहे थे, "जब आप देश लौटें तब कैरो जरूर उतरें। कैरो में सहित्यिकों से मिलकर आपको प्रसन्नता होगी।"

श्री पियरे लूवी फ्लुके से भेंट हुई। आप ब्रुसेल्स (बेलजियम) से काव्य-सम्बन्धी पत्रिका निकालते हैं जो फ्रेंच भाषा में है। उन्होंने पत्रिका का वह अंक दिखाया जिसमें स्वर्गीया सरोजिनी नायडू की तीन कविताओं के फ्रेंच अनुवाद छपे हैं। कहते थे कि भारत से कविताओं के अनुवाद भिजवाइये तो मैं उन्हें प्रकाशित करूँ। मगर, कौन करेगा हिन्दी कविताओं का फ्रेंच अनुवाद?

लोग गाँधी टोपी से आकृष्ट हैं। इस टोपी को देखते ही उन्हें "पंदित नेहरू" और 'इंदिया', ये दो शब्द अनायास याद पड़ जाते हैं।

रात रूसी कवि श्चीपाचोव से खाने की मेज़ पर दुभाषिये के माध्यम से बातें हुईं। उन्होंने पूछा, "आपने भारत कब छोड़ा?" मैंने कहा, "मिस्टर बुलगानिन और मिस्टर ख्रुशेव से मिलने के बाद।" फिर साहित्य के विषय में बातें हुईं। उन्होंने कोई खास जिज्ञासा नहीं दिखायी। मैंने ही कहा कि "रूसी कहानियों, उपन्यासों और निबन्धों के जो नमूने भारत पहुँचते हैं, उनमें टालस्टाय, तुर्गनेव और डास्टा-वेस्की की ऊँचाई तो नहीं मिलती, फिर भी, वे काफी अच्छे होते हैं, मगर, रूसी कविताओं के विषय में हम लोग लगभग कुछ नहीं जानते। क्या आप बतलायेंगे कि आपके यहाँ कविताओं के विषय, मुख्यतः, क्या होते हैं?"

मेरा प्रश्न कुछ बहुत अच्छा नहीं था, मगर, उसके बहाने कविता के सम्बन्ध में कुछ वार्तालाप खुल सकता था। किन्तु, कवि ने उसे यह कहकर टाल दिया कि "विषय मैं कहाँ तक बताऊँ? मास्को पहुँचकर मैं काव्य-सग्रहों की कुछ प्रतियाँ आपको भेज दूँगा। आप स्वयं देख लेंगे कि हमारे विषय क्या होते हैं।"

हिन्दी शब्द लोगों ने मेरे नाम के साथ जोड़ दिया है। वे समझते हैं कि, यह, शायद, मेरे नाम का ही अंश है। भारतीय को, शायद, वे हिन्दुस्की कहते हैं।

रात ही मित्स्केविच के नाटक 'फोरफादर्स इव' का अभिनय देखा जो साढ़े चार घंटे चलता रहा। दृश्य, प्रायः, 'मोनो लोग' के ही थे और बहुत लंबे-लंबे। मैं बार-बार

सो जाता था। किन्तु, दृश्य बड़े ही सुहावने और सजीव थे। अर्थ नहीं समझने पर भी अनुमान होता रहा कि मित्स्केविच महाकवि रहे होंगे।

२७-११-५५ (चार बजे शाम)

अभी-अभी लंच खाकर ऊपर आया हूँ। आज यहाँ से ३०-३५ मील दूर एक गाँव में गया था, जिसका नाम स्कालिमुफ है। वहाँ ट्रेड यूनियन की केन्द्रीय समिति का प्रधान दफ्तर है। आज वहाँ अतिथियों के लिए गीत, नृत्य और कंसर्ट का आयोजन था। यूरोप की उद्दामता उसकी कलाओं में भी है। कोरस गान किस उत्साह से गाते हैं! कितने लोग! किन्तु, कैसी एकता है! केसकर साहब पाश्चात्य धुनें नहीं चाहते, किन्तु, यह कोरस वाली चीज तो अपने यहाँ भी चलनी चाहिए।

गायन बड़े जोर का रहा। उससे भी बढ़कर नृत्य था। नृत्य में व्यायाम का पुट अधिक रहता है। अपने देश में नृत्य की मुद्राएँ तन से अधिक मन को अभिव्यक्त करती हैं। यहाँ नृत्य में भी शारीरिक अभिव्यक्ति ही प्रधान है। लेकिन, सब मिलाकर नृत्य प्रभावोत्पादक होता है।

वारसा-जैसे भरे-पूरे, लंबे और पुष्ट लोग यहाँ नहीं थे। आखिर कलाकार ही तो ठहरे। वे हर देश में शरीर से कुछ सूक्ष्म होते हैं। अलबत्ते, वारसा में अभिनेत्री स्करजंका

पहलवान-सी दीखती है। उसकी तुलना में यहाँ की नाचने-वाली लड़कियाँ बहुत नाटी हैं।

कलाकारों में पूरा उत्साह था। वे जी खोलकर अपने गुणों को प्रकट कर रहे थे। मगर, यहाँ के श्रोता भी खूब हैं। प्रशंसा में तालियाँ पीटने लगते हैं तो रुकने का नाम ही नहीं लेते। कलाकारों से अधिक से अधिक प्राप्त करना ये खूब जानते हैं। बढ़ावा और प्रोत्साहन कला का मुख्य आहार है। यह आहार यूरोप में कला को खूब मिलता है। भारत-वाले इस मामले में कंजूस हैं। हाँ, दिल्ली और मद्रास में प्रोत्साहन अच्छा दिया जाता है। इससे ज्ञात होता है कि कला को निश्छल प्रोत्साहन वही दे सकता है जो स्वयं पूर्ण रूप से निश्छल और सुसंस्कृत है।

नाच खत्म होते ही लड़कों और लड़कियों ने हम दोनों को घेर लिया। फोटोवाले फोटो उतारने लगे। कलाकार चुहलें करने लगे और बाकी अतिथि हम लोगों का तमाशा देखने में लग गये। किसी ने मेरी टोपी उतार कर खुद पहन ली और अपनी टोपी मुझे पहना दी। समाँ ऐसा बँधा कि हम दोनों तमाशा बन गये। अजीज आवाजा साहब ने व्यंग्य कसा, "आज तो बस आपका ही दिन है। आप बड़े किस्मतवाले निकले।" अभी लंच पर फ्रेंच प्रोफेसर की पत्नी ने कहा, "आज तो आपको कई सफलताएँ प्राप्त हुईं।"

नाचघर में यूनियन के कलाकारों ने कहा, "जब प्रीमियर नेहरू आये थे तब भी हमने नाच दिखाया था।" एक लड़की को

क्या हुआ कि वह आकर लिपट गयी और बोली कि तुम लोग मत जाओ। यहीं रहो और हमारे साथ नाचा करो। मैंने देम्बोस्की की ओर इशारा करके कहा कि ये हमें घसीटकर लिये जा रहे हैं।

नेहरूजी के कारण भारत पर अपार भक्ति जग पड़ी है। उसीका प्रसाद आज हमें प्राप्त हुआ। पता नहीं, यह ध्यान देने की बात है या नहीं, किन्तु, किसी-किसी अतिथि की आँखों में हल्की ईर्ष्या जरूर थी।

आज लंच में पोलैण्ड के एक युवक कवि साथ बैठे थे। उन्होंने कई पोलिश कवियों से परिचय कराया। युवक कवि ने नेहरूजी की वारसा-यात्रा की कहानी सुनायी। कैसे लोग बारह बजे दिन में (यानी काम के समय) दफ्तर छोड़कर सड़कों पर आ गये थे, कैसे उनकी एक झाँकी के लिए जनता उद्वेलित और बेचैन थी तथा कैसे नेहरूजी कार से उतरकर लोगों से मिलते और बातें करते थे।

मैंने कवि से पूछा, "नेहरू के प्रति आप लोगों में ऐसी भक्ति कैसे उत्पन्न हो गयी?" वे बोले, "भारत और पोलैण्ड की विपत्तियाँ समान रही हैं। नेहरू ने भारत को आजाद कराया, आज वे उसका उद्धार कर रहे हैं। साथ ही, वे शान्ति के देवता हैं। उनके भाषण यहाँ अखबारों में खूब छपते हैं और हमारा सारा देश उनकी बातों को विश्वनेता की बातें मान कर पढ़ता है।"

नेहरूजी ने भारत का नाम उजागर कर दिया। उनके नाम से भारत का नाम है। यहाँ बेनीपुरी और नागार्जुन की

वे गालियाँ याद आती हैं जो उन्होंने पटना-उपद्रव के समय नेहरूजी को दी हैं। धन्य हैं हम भारतवासी !

जब हम कंसर्ट देख रहे थे, मेरा मन कहीं अन्यत्र घूम रहा था। भारत में हम लोग बहुत धीरे-धीरे चल रहे हैं। चलना हमें बहुत तेजी से चाहिए। दिल्ली और प्रान्तीय राज्य, सबकी गति तेज की जानी चाहिए। लद्धड़ और आलसी के समान पड़े रहना और कोई काम नहीं करके केवल सिविल लिबर्टी की बातें बघारना, इससे तो कोई भी देश प्रगति नहीं कर सकता। हमारे देश में केवल स्वतंत्रता ही स्वतंत्रता है। तत्परता, मुस्तैदी और कार्य-पटुता, ये गुण अभी बढ़ ही नहीं पाये हैं। मगर, दोष किसका है ? हमारे झुंड के झुंड शिक्षित नवयुवक बेकार हैं। हर बेकार ग्रेजुएट एटम बम होता है। उसे काम दो, नहीं तो वह समाज को अराजकता के मार्ग पर ढकेल देगा।

साम्यवाद की दो उपलब्धियाँ यहाँ स्पष्ट दिखायी देती हैं। इस अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में पूर्व और पश्चिम का, गोरे और काले का भेद नहीं है। यह, सचमुच, अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन है। साम्यवाद के घेरे में आनेवाले देश आपस में अत्यन्त सामीप्य का अनुभव करते हैं और साम्यवाद ने बेकारी तथा वर्गभेद का उन्मूलन तो कर ही दिया है।

आते-जाते, रास्ते में, लाल ओवरकोट वाली महिला से बातें हुईं। खूब तेज औरत है। भारत के बारे में तरह-

तरह के प्रश्न पूछती है। छुआछूत, जातिवाद, ज्योतिषी, फकीर, भाषा और लिपि, यहाँ तक कि नेहरूजी के आवास, सबके बारे में उसने सवाल किये। फिर पूछ बैठी, "आपके बच्चे कितने हैं ?" मैंने कहा, "भारत की दृष्टि से अधिक नहीं, केवल चार हैं।" वह ठठाकर हँस पड़ी और हँसते-हँसते ही बोली, "अजी, एक बहुत काफी होता।"

२७-११-५५ (रात के समय)

जितना कुछ देखा है, उस पर पक्की राय बनाना जोखिम की बात है। किन्तु, ऐसा लगता है कि सेक्स की तेजी बुर्जुआ समाज की विशेषता है। यहाँ सेक्स कुछ संयत दिखायी देता है। यहाँ की नारियों के मुखपर वे कृत्रिम साज-सिंगार और प्रसाधन कम हैं, जिनसे सेक्स में तेजी आती है और वह आक्रामक हो उठता है। यहाँ की नारियों में सहजता के भाव हैं। उनके चेहरों से यह नहीं झलकता कि वे सेक्स को छिपा रही हैं अथवा उसे प्रकट कर रही हैं। लिपस्टिक वगैरह तो थोड़ा-बहुत दिखायी देता है, किन्तु, केशों की सजावट में असावधानता है। नारियों के बाल भी क्रान्तिकारी ढंग से बिखरे हैं, कभी-कभी सामने कपाल पर से कतरे हुए भी। क्या जानें, यह नया क्रान्तिकारी फैशन ही हो। एक बूढ़ी

महिला जरा चमक-दमक लिये आती हैं, कुछ बनी-ठनी-सी, जेवर पहनती हैं और उनके बोलने का ढंग भी जरा रईसाना है। ऐसा लगता है कि वे बुर्जुआ युग की यादगार हैं और इस महफिल में ठीक से फिट नहीं हो पाती हैं।

सड़कों पर जाड़े से बचने के लिए कान तो औरतों को भी ढँकना पड़ता है और जब नारी ने अपना सिर और कान ढँक लिये तो उसका आधा सेक्स तो छिप ही जाता है। किसी मुस्लिम लेखक की एक बात याद आती है कि नारी, चाहे तो, पुरुषों के बीच खड़ी रहने पर भी सेक्स से विच्छिन्न रह सकती है। यहाँ की पोशाकें सेक्स को उभरने नहीं देतीं, न औरतों को सेक्स का कोई खास ख्याल है। नारियाँ पुरुषों की प्रेरणा-दात्री नहीं, उनकी समकक्षाएँ हैं। यदि यह उपलब्धि साम्यवाद की है तो यह अच्छी बात है।

इटली की कवयित्री से आज फिर मुलाकात हुई। मुट्ठी भर की हलकी-छोटी मैना है। एक-एक शब्द पूरी शालीनता के साथ बोलती है, मानों, कोई पतली आवाज ग्रामोफोन से आ रही हो।

मर्दों और औरतों के बीच छुआछूत का यहाँ कोई भाव नहीं है। थियेटर से निकलते समय जब लोग ओवरकोट लेने जाते हैं, तब वे परस्पर घर्षित होते रहते हैं। मगर, इसका कोई बुरा नहीं मानता। सेक्स का पाप-भाग, भय-भाग यहाँ नहीं सताता। सेक्स यहाँ छलपूर्ण नहीं, स्वाभाविक और निर्भीक है।

२८-११-५५

आज वारसा-विश्वविद्यालय के भारतीय विभाग में भारतीय कविता पर भाषण देने जाना था। भोर ही उठकर भाषण तैयार किया। यूनिवर्सिटी जाने पर पहले भाषा-तत्व-विभाग में गया। वहाँ तुर्की और अरबी वर्ग के छात्र अजीज अवाजा पाशा और टर्की के कवि "कमेल" के साथ बातें कर रहे थे। वहाँ से हम लोग इंडिया सेक्सन में गये। यह विभाग अभी दो सप्ताह पूर्व खुला है। "कास्ट्स आव सदर्न इंडिया" तथा मैक्स मूलर-कृत "सेक्रेड बुक्स आव द ईस्ट" की जिल्दें वहाँ विशेष रूप से दिखायी पड़ीं। मैंने अपनी कई किताबों का एक सेट इस शाखा को उपहार में दिया। साथ में रामचरितमानस की भी एक प्रति तथा "शान्तिदूत" की एक कापी भी दी। इस शाखा की ओर से जिस प्राध्यापक ने भेंट स्वीकार की, उनका नाम यबोंएंस्की है।

भारतीय विभाग से हम लोग चीनी विभाग में आये। यहाँ के प्रोफेसर एक चीनी सज्जन हैं, जिनका नाम चाङ-चिङ-क्वे है। मेरे साथ चीन के कवि श्री पियेन भी आये थे। चीन से क्लासिक ग्रन्थ यहाँ हाल में ही लाये गये हैं। अब तक कोई तीस पोलिश छात्र चीनी भाषा सीख चुके हैं। संस्कृत और पालि भी वारसा यूनिवर्सिटी में पढ़ायी जाती है। किन्तु, उस शाखा के प्राध्यापक प्रोफेसर स्लुस्कोविच आज

यहाँ नहीं थे। वे यहाँ से दो सौ मील दूर रहते हैं और केवल वर्ग के दिन, समय पर, आकर फिर वापस चले जाते हैं।

भारतीय शाखा में वापस आकर मैंने अपना निबन्ध पढ़ा। अंगरेजी जाननेवाले कुल दस-बारह व्यक्ति ही वहाँ मौजूद थे। ओलगियर्थ ने भाषण की कापी ले ली है। वे इसका पोलिश अनुवाद पत्रों में छपायेंगे।

विदेशी भाषाएँ सिखाने का काम भारतवर्ष में भी चलता है। किन्तु, अपना देश इतना विशाल है कि यह प्रयत्न दाल में नमक के बराबर ही है। फिर भी, यह सत्य है कि विश्व की एकता तभी सम्भव होगी, जब हर देश में हर भाषा के जानकार, अधिक-से-अधिक संख्या में, तैयार होंगे।

आज संध्या समय वह अंतर्राष्ट्रीय कवि-सम्मेलन होगा, जिसमें भाग लेने को हम आये हैं। तय किया है कि "कुरुक्षेत्र" के षष्ठ सर्ग में से कुछ पंक्तियाँ पढ़ूंगा। ओलगियर्थ कहते थे कि कविता का पोलिश अनुवाद अच्छा उतरा है।

२९-११-५५

रात का कवि-सम्मेलन भारत के हाथ रहा, इसमें कोई सन्देह नहीं है। आज सागर ने बड़े तड़के अपनी बीबी को खत लिखा, "मुबारक हो, लो, पोलैण्ड फतह हो गया।" मैंने कहा, "सागर साहब ! कुछ यह भी ख्याल है कि तेनसिंह और हिलारी

जब एवरेस्ट पर चढ़े थे तव धीमे-धीमे यह मजाक भी चलता था कि ये लोग सच कहते हैं या झूठ, यह कौन बता सकता है? दोनों एक दूसरे के ही तो गवाह हैं।" सागर बोले, "मगर, दिनकर साहब! यहाँ तो फोटो मौजूद हैं। और क्या यहाँ के अखबारों में रिव्यू नहीं आयेगी?" सागर का मुस्तैद जवाब सुनकर हँसी आ गयी और हम दोनों एक दूसरे को देखकर देर तक हँसते रहे।

आज के एक अखबार में कई कवियों के कार्टून निकले हैं। एक कार्टून "हिन्दुस्की कवि दिनकर" का भी है। और सागर की प्रशंसा करते हुए अखबार ने लिखा है कि भारत में अभी कविता संगीत से सर्वथा भिन्न नहीं हो पायी है। टिप्पणी, शायद, इस बात पर है कि रात मैंने कविता का पाठ भर किया था और सागर ने अपनी कविता तरन्नुम में पढ़ी थी।

रात कवि-सम्मेलन के इंटरवल में जो कवि बधाई देते हुए मुझसे लिपट गये थे, वे क्यूबा के हैं, स्पेनिश में कविता करते हैं और उनका नाम निकोलस गिलन है। और जो कवयित्री फोटो के समय बगल में आ खड़ी हुईं, वे सिसली की हैं। ये बातें आज बारबारा ने बतायीं, जो रात ऑटोग्राफ लेने को आयी थी।

रात एक और मजाक रहा। कवि-सम्मेलन के इंटरवल में और उसकी समाप्ति के बाद, बधाई देनेवालों का ताँता लग गया था, किन्तु, लाल ओवरकोट वाली रमणी, जो कभी-कभी हमारी दुभाषिया बन जाती है, उस समय मेरे पास नहीं

आयी। होटल लौटने पर उससे लाउंज में भेंट हुई, तब मैंने कहा, "इतने लोग मुझे प्रोत्साहन देते रहे, मगर, आप कहाँ रह गयीं? व्हाई डिड यू नाट रन एण्ड कांग्रेचुलेट मी? (आप मुझे बधाई देने को दौड़कर क्यों नहीं आयीं?)" वह बोली, "मर्दों का काम है कि वे औरतों के पीछे दौड़ें। औरतों का तो मर्दों ने दिमाग़ ही खराब कर रखा है। वे मर्दों के पीछे क्यों दौड़ने जायँ? मगर, आप लोगों की कामयाबी बहुत बड़ी रही। बधाई के भूखे हों तो अब ले लीजिये।"

कल तक लोग हम में जो दिलचस्पी लेते थे, आज उससे ज्यादा ले रहे हैं। आज दो कवियों ने पूछा, "रात क्या आपने कविता संस्कृत में पढ़ी थी?" मैंने कहा, "नहीं। वह कविता हिन्दी में थी, जो संस्कृत की उत्तराधिकारिणी और हमारे संपूर्ण राष्ट्र की भाषा है।"

ओलगियर्थ बड़े मजाकिये हैं। आज नाश्ते के समय हमारे साथ स्पेन के कवि और उनकी सहधर्मिणी भी बैठी थीं। महिला अधेड़ उम्र की होंगी, मगर, सजी-धजी, ठीक कविरानी ही मालूम होती हैं। वे अंगरेजी नहीं जानती हैं। तीन-चार बार उन्होंने पंडित नेहरू का नाम लिया। मैंने भाँपा तो जरूर कि वे हम से कुछ बोलना चाहती हैं, किन्तु, स्पेनिश का कोई दुभाषिया वहाँ उपलब्ध नहीं था। निदान, बेचारी ने अपना चाँदी का लाकेट उतार कर मेरी ओर बढ़ा दिया। मैंने भी भावभंगी से यह बताते हुए कि लाकेट अच्छा है और आपको खूब जेब देता है, उसे फिर उन्हें वापस कर दिया।

इस पर, दोनों पति-पत्नी हँसने लगे। इतने में, ओलगियर्थ बोले, "लेकिन, मिस्टर दिनकर, जोड़ी बिलकुल अनरोमांटिक है।" *ओलगियर्थ का लक्ष्य, शायद, कवि की ओर था,* जो शरीर से कुछ भारी हैं।

अंगरेजी की व्यापकता का भारत में बड़ा शोर है। किन्तु, इस सम्मेलन में तो वह बिलकुल लँगड़ी दीखती है। फ्रेंच जाननेवाले लोग बहार में हैं। यूरोप का प्रत्येक विद्वान, प्रायः, थोड़ी-बहुत फ्रेंच अवश्य जानता है। किन्तु, अंगरेजी के जानकार इस सम्मेलन में बहुत कम हैं। हमारी नाव तो तब तक अटकी रहती है, जब तक कोई अंगरेजीदाँ दुभाषिया न आ जाय।

३०-११-५५

कल पूर्वाह्न में वारसा यूनिवर्सिटी हाल में कवि-सम्मेलन हुआ। उपस्थिति बहुत अच्छी और उससे भी अच्छा लोगों का उत्साह था।

कल शाम को राष्ट्रपति की ओर से दावत थी। हम राष्ट्रपति से कुछ दूर पर घूम रहे थे कि उन्होंने बुलाकर हमें मुख्य स्थान पर ला खड़ा किया। वहीं रूस के राजदूत भी खड़े थे और रूस के कवि श्चीपाचोव भी। रूसी कवि से तो परिचय हो ही गया था, राष्ट्रपति ने भी हम दोनों का

बाजाप्ता परिचय कराया और वे बोले, "अब आप दो कवियों के भीतर से दो महान् देश परस्पर मिल रहे हैं।"

इस दावत में अभिनेत्री स्करजंका भी निमंत्रित थीं। मैंने एक पोलिश कवि से उनके काव्य-पाठ की प्रशंसा की थी और यह भी कहा था कि मेरी कविता का अनुवाद भी उन्होंने अच्छे ढंग से उपस्थित किया है। यह बात अभिनेत्री को मालूम थी, अतएव, उन्होंने चाहा कि मेरे साथ उनका फोटो लिया जाय। इस पर एक ग्रुप फोटो लिया गया।

इस अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन की कई विशेषताएँ देखने में आती हैं। एक तो यह कि कोई किसी से तनिक भी अशिष्ट या उदासीन व्यवहार नहीं करता। न तो कोई कवि रूठता है, न किसी को यह अनुभूति सताती है कि लोग उसकी उपेक्षा कर रहे हैं। न चार कवि एकत्र होकर वहाँ से अनुपस्थित कवि की निन्दा ही करते हैं। राजनीति तो यहाँ वार्तालाप से बिलकुल बाहर की चीज है।

होटल में मस्ती और बेपरवाही का वातावरण छाया रहता है। सिगरेट के धुएँ, प्रायः, छोटी-मोटी बदली का रूप ले लेते हैं। हम से अधिक मित्रता मिश्र और टर्की के प्रतिनिधियों की बैठती जा रही है। यह, शायद, भौगोलिक सामीप्य के कारण।

होटल से बाहर के नागरिक भी अतिथियों का खूब सम्मान करते हैं। ऐसा लगता है, मानों, सारा नगर दायित्व के ज्ञान से दबा हुआ हो। सारा वातावरण विनय और निरहंकारिता

का है। ऐसे में सांस्कृतिक आदान-प्रदान के कार्य ठीक से चल सकते हैं। यह ऐसा सम्मिलन है, जिसमें न तो कोई प्रस्ताव है, न कोई अपना मत कहने से घबराता है। यह विभिन्न मतावलंबी साहित्यिकों का मुक्त मिलन है। मुझे तो कहीं भी कोई रोक-टोक के लक्षण दिखायी नहीं देते।

पोल होने का गौरव, प्रायः, प्रत्येक पोल के चेहरे से झलकता है। यह योग्य भी है। जातियाँ जब विपत्तियों के बीच से सही-सलामत निकलती हैं, उनके आध्यात्मिक तेज में वृद्धि हो जाती है।

४. क्रैकोव और पोज़न

क्रैकोव और पोज़न, वारसा के बाद, पोलैण्ड के सबसे नामी नगर हैं। क्रैकोव की विशेषता यह है कि वह किसी समय पोलैण्ड की राजधानी था और वहाँ यूरोप का अति प्राचीन विश्वविद्यालय भी अवस्थित है। पोज़न का महत्व उद्योगों का केन्द्र होने के कारण है।

पहली दिसम्बर १९५५ ई० को वारसा से क्रैकोव जाना था। क्रैकोव में अदम मित्स्केविच की समाधि भी है और उत्सव इस समाधि पर भी हुआ था। किन्तु, हम उस दिन क्रैकोव नहीं पहुँच सके।

पहली दिसम्बर को ही बर्लिन रेडियो का एक आदमी माइक लेकर होटल में आया और मुझसे भारतीय कविता पर अंगरेजी में एक वार्ता रेकार्ड करवा कर ले गया। दिन

भर शहर घूमकर हम रात की ट्रेन से क्रैकोव के लिए प्रस्थित हुए। अब देम्बोस्की हमारे साथ नहीं थे, प्रत्युत्, इस बार दुभाषिये के रूप में हमारे साथ मिस्टर मित्सलो नामक युवक चले, जो अंतर्राष्ट्रीय कमीशन के सिलसिले में हिन्द-चीन भी रह आये हैं। वे अंगरेजी खूब जानते हैं और तबीयत से भी निश्छल, उत्साही और मिलनसार हैं।

ट्रेन में जाते ही मित्सलो हमें होटलवाले डिब्बे में ले गये। डाइनिंग कार में भोजन करने को मजदूर और अफसर, सब आते हैं, मगर, उनके बीच कोई भेद नहीं दिखायी देता। वर्ग-हीनता का यह दृश्य हृदय को बहुत अच्छा लगा और मन के भीतर से यह पुकार निकली कि, न जानें, अपने देश में यह दृश्य कब देखने को मिलेगा। अभी तो वहाँ लोकप्रिय मंत्रियों से भी बातें उनकी आँख देखकर ही की जा सकती हैं।

डाइनिंग कार में एक बात यह हुई कि एक पंगु भिखारी लाठी टेकता हमारी मेज पर आ पहुँचा। हम जब तक उससे बात करें-करें कि मित्सलो शरमा गये और उन्होंने पाँच ज्लोती का एक नोट देकर उसे विदा कर दिया। मित्सलो से मन मिल गया था, इसलिए, मैंने उससे कहा, "अरे, इसमें भारतवासियों के सामने लजाने की क्या बात है? हमारे देश में तो भिखारी कदम-कदम पर मिलते हैं। यदि तुम्हारे देश में एक भिखमंगा दिख गया तो क्या बात है?" इस पर मित्सलो ने कहा, "आपके देश की समस्या और है। वहाँ आदमी अधिक और रोजगार अभी कम हैं। किन्तु, पोलैण्ड

में तो जितने रोजगार हैं, उतने आदमी ही नहीं मिलते। फिर भी, युद्ध में आहत इस आदमी के लिए हम अभी तक कुछ नहीं कर सके, इसका हमें दुःख है।" मगर, हिन्दुस्तान में हम अगर ऐसी बातों से दुःखी हों भी तो इस दुःख को समझनेवाला कौन है ?

खाते-खाते हम एक-दूसरे को अपने-अपने देश के मजाक सुनाने लगे। यह सिलसिला ऐसा जमा कि हम डाइनिंग कार में बैठे-बैठे ही क्रैकोव पहुँच गये। स्टेशन पर जब हम उतरे, मित्सलो ने हमारा परिचय क्रैकोव लेखक-संघ के सभापति, नगर-निगम के अध्यक्ष तथा विश्वविद्यालय के प्रोफेसर दोब्रोबालस्की से कराया, जो हमारे स्वागत के निमित्त आये थे।

दूसरे दिन हम लोग मित्सकेविच की समाधि पर पुष्प चढ़ाने गये। कवि का शरीर-पात तो देश से बाहर हुआ था। बाद को, उनका फूल क्रैकोव के बैवल किले में गाड़ा गया, जहाँ पोलैण्ड के प्राचीन राजाओं की समाधि है। फिर, हम वह म्युजियम देखने गये जो क्रैकोव के राजमहल में अवस्थित है। बैवल के किले में ही, मित्स्केविच के पार्श्व में पोलैण्ड के दूसरे कवि, स्लोवास्की की भी समाधि है।

राजमहल में घूमते समय जर्मन अत्याचार की कहानी छिड़ गयी। प्रोफेसर दोब्रोबालस्की म्युजियम भी दिखाते जाते थे और यह भी कहते जाते थे कि पोलैण्ड पर अधिकार कर लेने के बाद जर्मनों ने इस राजमहल को अपना अड्डा बना लिया था ; यहाँ वे शराब पीते थे, यहाँ वे नाचते थे, यहाँ

उन्होंने सिनेमाघर बनवाया था और यहाँ वे कूदा-उछला करते थे। म्युजियम में चित्रों का जो संग्रह है, वह काफी सुन्दर है।

क्रैकोव का विश्वविद्यालय सन् १३६४ ई० में स्थापित हुआ था और उसे स्थापित करनेवाले पोलिश राजा का नाम काजिमिर महान् था। पेरिस की यूनिवर्सिटी इससे भी पुरानी है। प्रोफेसर ने मुझे यह भी बतलाया कि विश्व की प्राचीनतम यूनिवर्सिटी दसवीं सदी में ट्यूनिसिया में बनी थी। मैंने उनकी सूचना के निमित्त निवेदन किया कि भारत का प्राचीनतम विश्वविद्यालय तक्षशिला में था। विक्रमशिला और नालन्दा के विश्वविद्यालय तो ग्यारहवीं-बारहवीं सदी में आकर नाश को प्राप्त हुए।

क्रैकोव के गिरजाघर पर एक घंटाघर है, जिस पर प्रत्येक घंटा बीतने पर उतनी ही बार तुरही बजायी जाती है। कहते हैं, यह सिलसिला १४ वीं सदी से चला आ रहा है और तुरही रुक-रुककर बजायी जाती है, जिसके साथ पोलैण्ड पर तातार-आक्रमण की कोई स्मृति संबद्ध है। कहते हैं, १४ वीं सदी में जब तातार लोग क्रैकोव नगर पर चढ़ आये तब एक चौकीदार घंटाघर पर खड़ा होकर नगरवालों को सचेत कर रहा था कि दुश्मन कितनी दूर पर है। इतने में, एक तीर उसके गले में आ लगा। वह मरते दम तक रुक-रुककर आगाही की आवाज देता ही गया। उसी चौकीदार की याद में हर घंटे तुरही रुक-रुककर बजायी जाती है।

क्रैकोव की यात्रा इसलिए भी याद रहेगी कि वहाँ मेरे एक दाँत में दर्द हो गया। सागर के दाँत में भी, संयोग से, उसी दिन दर्द उठा था। अतएव, हम दोनों व्यक्ति अस्पताल ले जाये गये। वहाँ मर्द डाक्टर कोई था ही नहीं और दाँत उखाड़ने के जो औजार थे, उनमें पूरा जंग लगा हुआ था। मेरा शरीर मधुमेह से पीड़ित है। अतएव, मैंने डाक्टरनी से कहा कि, "आप मेरे दाँत को मत उखाड़ें, केवल दर्द कम करने की कोई दवा दे दें। दाँत उखड़वाना होगा तो यह काम मैं लंदन में करूँगा।" मगर, मेरी कौन सुनता ? एक डाक्टरनी ने दाँत को चटाक से तोड़ ही तो दिया। मैं उस पर काफी नाराज हुआ। मैंने कहा कि अगर दाँत का कोई टुकड़ा भीतर रह गया हो तो मैं तो अब मर ही जाऊँगा और यही बात मैंने सागर से भी कही। डायबिटिक शरीर में नासूर हो जाय अथवा मसूड़े के भीतर दाँत का कोई टुकड़ा अटक जाय तो रोगी की मृत्यु हो सकती है, यह संस्कार मेरे मन में बैठा हुआ था और अब भी है। अतएव, मैंने सागर से कहा कि "आये तो हम दो व्यक्ति थे। किन्तु, लौटना अब आपको अकेले पड़ेगा। क्योंकि इस पिछड़े हुए देश में कौन मेरी वैसी देख-भाल करेगा, जैसी देख-भाल पटने के डाक्टर किया करते हैं ?" विचित्र बात यह हुई कि डाक्टरनियाँ जिद करने लगीं कि दाँत टूटकर भीतर नहीं छूटा है। मैंने कहा कि एक्स-रे करके देख लो। और एक्स-रे के बाद डाक्टरनियों की गरदनें झुक गयीं। दाँत का एक खासा टुकड़ा, सचमुच ही,

भीतर रह गया था। मगर, अब गुस्सा करने से क्या लाभ था? मैं आपरेशन की कुर्सी पर बैठ गया और एक डाक्टरनी किसी तरह की रुखानी से खोद-खोदकर दाँत निकालने लगी। दाँत जब साफ हो गया, तब मैं पेनिसिलिन लेकर वहाँ से चलता बना। मगर, बड़ी डाक्टरनी को धन्यवाद कि वह रात में मुझे होटल में देखने आयी और कुछ सेंक-साँक करके मुझे सुला कर चली गयी। प्रभु की कृपा से घाव दो-तीन दिन में ही अच्छा हो गया। किन्तु, डाक्टरी की दृष्टि से तुलना करता हूँ तो मुझे अब भी यही दीखता है कि क्रैकोव अठारहवीं सदी में है जब कि हमारा शहर पटना इक्कीसवीं सदी में पहुँच रहा है।

तीसरी दिसम्बर को लोग हमें क्रैकोव से ओसवेचिम ले जाना चाहते थे। यह स्थान क्रैकोव से कोई ५० मील उत्तर है। वहाँ जर्मन अत्याचार का एक म्युजियम कायम किया गया है। कहते हैं, लड़ाई के दिनों में जर्मनों ने कोई सत्तर लाख पोलों को जान से मार डाला। हत्या का यह काम ओसवेचिम में चलता था और कुछ अन्य जगहों पर भी। पोलिश मित्रों का कहना है कि जर्मन हत्यारे एक-एक पढ़े-लिखे, गुणवान पोल को मार डालना चाहते थे। कवि, पत्रकार, प्रोफेसर, शासक, जनसेवी, राजनीतिज्ञ और कलाकार, इनमें से वे किसी को भी जीवित छोड़ना नहीं चाहते थे। जीवित वे केवल उन्हें रखना चाहते थे, जो जर्मनों की बेगारी और मजदूरी कर सकें। मित्सलों ने हत्या की जो कहानियाँ सुनायीं, उन्हें याद करके आज भी उबकाई आती है। ढंग यह था कि सौ-दो-सौ

मर्द एक साथ पकड़वा कर मँगवा लिये जाते, उनका सिर मुँड़वा लिया जाता कि केशों से जर्मन कारखानों में ब्रश बनवाये जा सकें और फिर सबको गोलियों के घाट उतार दिया जाता। हत्या उन्होंने नारियों की भी की। मेरे चकित होने पर भिल्सलो ने कहा, "प्रोफेसर! नाजी हत्यारों में उतनी भी करुणा नहीं थी जितनी व्यभिचारियों में होती है।" ओसवेंचिम में एक वधालय भी था जिसमें लोग बिजली में जीवित ही भून दिये जाते थे क्योंकि लाखों लोगों को मारने में गोलियाँ व्यर्थ वर्बाद होतीं।

ये कहानियाँ सुनकर हमारा हृदय दहल गया। इसलिए, ओसवेंचिम जाने से हमने इनकार कर दिया। म्युजियम तो सिर्फ ओसवेंचिम में ही है, किन्तु, जर्मनों के मृत्यु-शिविर दहाक, त्रेवलिका और मैदानक नामक स्थानों पर भी चलते थे। पोलिश जाति समूल विनष्ट होने से बच गयी, इसे परमात्मा का ही अनुग्रह समझना चाहिये।

चौथी दिसम्बर को नौ बजे भोर में हम पोज़न पहुँचे और लोगों ने हमें होटल ओरबिस में ठहराया। यहाँ सबसे पहले हम टाउन हाल देखने गये। यह हाल पहले पहल १४ वीं सदी में बना था, किन्तु, वह जल गया। तब दूसरी वार १५५० ई० में और तीसरी वार १७६० ई० में उसका निर्माण हुआ। फिर हिटलर के राक्षसों ने उसे बर्बाद कर दिया। अब जो भवन खड़ा है, वह सन् १९५० ई० में तैयार हुआ है। भीतर तो नवीनता काफी चमकती है, किन्तु, बाहरी रूपरेखा

पुरानी ही रखी गयी है। यह पोलों के परंपरा-प्रेम का प्रमाण है।

पोज़न का राष्ट्रीय म्युजियम देखा। इसमें मित्स्केविच की विभिन्न मूर्त्तियाँ और भाँति-भाँति के चित्र हैं। चित्रों में कहीं तो वह दृश्य है जिसमें कवि रोम से पोज़न आ रहे हैं, कहीं उन गाँवों के चित्र हैं जहाँ उन्होंने पड़ाव डाले थे, कहीं उन दोस्तों के चित्र हैं जिन्होंने उनकी सहायता की थी।

संगीत का एक म्युजियम हमें अलग भी दिखाया गया। इसमें देश-देश के बाजे संग्रहीत हैं। अपने देश के बाजे भी यहाँ दिखायी दिये। किन्तु, देखने की असल चीजें यहाँ शापेन के विषय में हैं। शापेन पोलैण्ड के संगीतज्ञ और कंपोजर थे। वे १९ वीं सदी में हुए हैं। सारे देश को अपने गीतों से प्रमत्त करके वे जवानी में ही स्वर्ग सिधार गये। किन्तु, उनकी स्मृति यहाँ भली भाँति सुरक्षित है। म्युजियम में वह पियानो है जिस पर वे गीत कंपोज करते थे। लकड़ी का उनका एक प्रोफाइल भी है, जिसमें उनका भावावेश स्पष्ट झलकता है। उनकी एक प्रतिमा भी है जिसे हिटलरी भूतों ने नीचे से तोड़ डाला है। किन्तु, सबसे अपूर्व तो उनके करतल और उँगली की पोर्सलिन-प्रतिच्छवि है जो बहुत ही कोमल और खूबसूरत मालूम होती है। कलाकार की जो उँगलियाँ पियानो पर खेलती थीं उनकी प्रतिच्छवि बनवाने की सूझ के लिए रचयिता कलाकार को मैंने मन-ही-मन धन्यवाद अर्पित किया।

क्रैकोव और पोज़न में जी खूब लगता था। ये नगर तो कुछ वैसे बड़े नहीं हैं। किन्तु, वहाँ साहित्यिकता और हार्दिकता यथेष्ट है। साम्यवादी सभ्यता की नीरस झाँकी वारसा में अधिक, इन दो नगरों में बहुत कम है। यहाँ की नारियों में भी शृंगार और प्रसाधन की परंपराएं अभी बदस्तूर चल रही हैं और धार्मिकता के लक्षण भी जनता में अभी शेष हैं। दोनों नगरों में लेखकों से हमारी बातें मुक्त भाव से हुईं। मैं तो सर्वत्र गाँधीवाद, रहस्यवाद और आध्यात्मिक विषयों पर ही बोलता था, किन्तु, कहीं भी श्रोताओं की ओर से अवरोध की कोशिश नहीं हुई। पोलों के बारे में मेरा यह भाव बना कि वे निश्छल, मिलनसार और खुले दिल के आदमी होते हैं। वे कम्युनिज्म को बदल देंगे, कम्युनिज्म उन्हें नहीं बदलेगा।

क्रैकोव में एक कैथोलिक कवयित्री से भेंट हुई। उनकी उम्र ६३ साल की है और वे आक्सफोर्ड में पढ़ी हुई हैं। उन्होंने कहा कि "मैं धार्मिक कविताएँ लिखती हूँ और कैथोलिक प्रेस उनका प्रचार करता है"। कम्युनिस्टों ने उनके काम में बाधा नहीं डाली है। बाधा का अनुभव उन्हें अपने धर्म-बन्धुओं से ही हुआ है।

मैंने पूछा कि, "इसके क्या मानी हैं?" वे बोलीं, "यही कि मेरे सबसे बड़े आलोचक कैथोलिक विद्वान ही रहे हैं।" और वे पूछ बैठीं कि "क्या तुमने आलोचकों के हाथों मार नहीं खायी है?"

मुझे अपनी बातें याद करके हँसी आ गयी। बोला, "मैडम ! मैं तो वह अभागा हूँ, जिसे बाप भी पीटता है और बेटा भी।" इस पर कवयित्री ठठाकर हँसने लगीं। फिर बोलीं, "हाँ, साहित्य में पीढ़ियाँ एक दूसरे का रोब कम मानती हैं।"

उन्हींसे यह बात भी मालूम हुई कि पोलैण्ड में धार्मिक कविताएँ तो कैथोलिक प्रेस छापते हैं, किन्तु, बाकी हर रचना सेंसर के अधीन है। सेंसर जिसे पास नहीं करता, वह रचना प्रकाश में नहीं आती है और नामंजूर रचनाओं की नामंजूरी का कारण बताने का भी रिवाज नहीं है।

यह शुद्ध रेजिमेंटेशन का सबूत था, अतएव, मैंने कहा कि "इस प्रकार बंधन में रहने से तो आपका साहित्य निस्प्राण हो जायगा।" किन्तु, इस सुस्पष्ट सत्य को भी कवयित्री ने स्वीकार नहीं किया। वे बोलीं, "साहित्य तो वही उत्तम होता है, जिसे जनसाधारण समझे और उससे आनन्द उठा सके। कला को भी जन-जीवन से संबद्ध होना चाहिए। पोलैण्ड में हम इसी उद्देश्य को सिद्ध करना चाहते हैं। यह अच्छा हुआ कि सरकार का ध्यान इस बात की ओर गया है। आपके यहाँ टैगोर हुए हैं। किन्तु, उनकी कविताएँ केवल पंडितों के लिए हैं। जन-साधारण के पल्ले वे क्या पड़ती होंगी? युद्ध के पहले पोलैण्ड में भी ऊँचा साहित्य लिखा जाता था। मगर, उन दिनों लेखकों की बातें लेखक ही समझते थे। जनता उन्हें ग्रहण नहीं कर पाती थी। मगर, आज जो नाटक लिखे जा रहे हैं, वे जनता की भी समझ में आते हैं।"

कवयित्री की बातें सुनकर मैं क्षणभर को विचारों में डूब गया। दुनिया में महल भी हैं और झोपड़ियाँ भी। उचित तो यह होगा कि सभी झोंपड़ियाँ महल बन जायँ। मगर, वह कार्यक्रम श्रम और समय से सिद्ध होगा। इसलिए, अधीर लोग महलों को तोड़कर वहाँ झोंपड़ियाँ बनाने का नारा लगा रहे हैं। तो क्या साहित्य में भी महल तोड़कर अब केवल झोंपड़ियाँ खड़ी की जायँगी? कवयित्री की बातें कुछ ठीक से समझ में नहीं आयीं। मैंने केवल यह कहा कि "रवीन्द्र के बहुत-से गीत हम भी गाते हैं और वे ही गीत आप बंगाल के मछुओं से भी सुन सकती हैं।"

कवयित्री ने यह भी बताया कि जर्मन कवि गेटे-कृत फौस्ट के, पोलिश में, पाँच अनुवाद निकले हैं। एक अनुवाद उनका भी किया हुआ है। अनुवादों की कठिनाई का वर्णन करते हुए वे बोलीं, "यह गुनाह बेलज्जत-जैसा काम है। घोर परिश्रम के बिना आप किसी भी कलाकृति का अनुवाद नहीं कर सकते और अनुवाद कर लेने पर आप पाते हैं कि वह बिलकुल निर्जीव है।"

पोज़न की एक साहित्य-गोष्ठी में साहित्यिकों ने चाहा कि मैं भारतीय छन्दों के बारे में कुछ कहूँ और छन्दों के कुछ उदाहरण भी सुनाता चलूँ। मैंने हिन्दी और उर्दू के कितने ही छन्द उन्हें सुनायें। विशेषतः, "आयएम्बिक पेंटामीटर" और "बरवै" छन्द की तुलना उन्हें खूब पसन्द आयी।

'रेजिमेंटेशन' के पक्ष में चाहे जितनी भी दलीलें दी जायँ, किन्तु, पोलैण्ड के साहित्यकारों से मेरी जो बातें हुईं, उनसे मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि साहित्य में रेजिमेंटेशन का प्रयोग यहाँ असफल हो चुका है और अब लेखक और कवि साहित्य के स्वाभाविक लक्ष्य की ओर मुड़ रहे हैं।

कविता इधर के देशों में, प्रायः, मर चुकी है। कवियों से मैंने बार-बार मिस्टिसिज्म के बारे में बातें कीं। सोचता था, रहस्यवाद का नाम सुनकर वे हँस देंगे। किन्तु, मेरी बात वे समझते ही नहीं थे। जब मैं समझा कर कहता, तब वे केवल यह कह उठते कि हमारे यहाँ ऐसी कविताएँ धार्मिक कोटि में रखी जायँगी।

अन्तर्राष्ट्रीय कवि-सम्मेलन

भारत में अब तक मैंने कोई पाँच सौ कवि-सम्मेलनों में भाग लिया है। इनमें से, दस-पाँच सम्मेलन ही ऐसे रहे होंगे, जिनमें उर्दू, बँगला या किसी अन्य भारतीय भाषा के कवि साथ रहे हों। अन्यथा, ये सभी सम्मेलन हिन्दी-कवियों के थे तथा इनके श्रोता भी हिन्दी जानने और समझनेवाले लोग थे। किन्तु, वारसा का अन्तर्राष्ट्रीय कवि-सम्मेलन इन सभी सम्मेलनों से भिन्न था। यह एक ऐसा सम्मेलन था, जिसमें तीस देशों के कोई पैंतालीस कवि उपस्थित थे और अधिकतर उनकी भाषाएँ भी परस्पर भिन्न थीं। हाँ, सुननेवाली जनता, विशेषतः, पोलैंड की थी जो पोलिश बोलती है और रूसी जैसे-तैसे समझ लेती है।

यह अन्तर्राष्ट्रीय कवि-सम्मेलन पोलैंड के राष्ट्रीय कवि अदम मित्सकेविच की सौवीं निधन-तिथि मनाने को आयोजित किया गया था। अदम मित्सकेविच सन् १७९८ ई० में जन्मे थे और सन् १८५५ ई० में उनका देहान्त हुआ। लिखना उन्होंने सन् १८२० ई० में आरम्भ किया और, प्रायः, चौदह वर्ष तक काव्य लिखकर सन् १८३४ ई० से कविता लिखना उन्होंने छोड़ दिया। उनकी सब से बड़ी कृति "पन ते दोश" है, जिसे मित्सकेविच ने सन् १८३४ ई० में पूर्ण किया। पोलैंड का इतिहास भारत के राजपूतों के इतिहास से मेल खाता है।

पोलिश जाति का इतिहास वीरता और बलिदान का इतिहास है, किन्तु, उसके समस्त बलिदान, अन्त में, विपत्तियों में विलीन होते रहे। अदम मित्सकेविच ने अपनी जाति की पीड़ाओं को अभिव्यक्ति दी तथा उसकी वीरता को उभारा। "पन ते दोश" में पोलिश जाति की वेदना और वीरता, दोनों का कलात्मक चित्रण हुआ है और, इसीलिए, यह काव्य पोलैंड का अप्रतिम राष्ट्रीय काव्य समझा जाता है। मित्सकेविच रूसी कवि पुश्किन और जर्मन कवि गेटे के मित्र थे एवं बायरन तथा शीलर का उनपर काफी प्रभाव था। विचित्र बात यह है कि पोलैंड का यह राष्ट्रीय कवि कभी भी अपने देश में न रह सका। उसकी सारी उम्र निर्वासन में बीती, बल्कि, अपना अधिकांश समय उसने फ्रांस में व्यतीत किया।

"पन ते दोश" लिखने के बाद, मित्सकेविच ने काव्य-रचना छोड़ दी, इससे यह नहीं समझना चाहिए कि उस समय तक उनकी काव्य-प्रतिभा का स्रोत सूख गया था। असल में, जिस उमंग से उच्छल होकर वे काव्य लिख रहे थे, उसी उमंग को आकार देने के लिए उन्होंने कविता से अवकाश ग्रहण किया। उनके सामने पोलैंड को स्वाधीन करने का प्रश्न सब से प्रमुख था। वे पोलैंड के केवल कवि ही नहीं थे, वरन, उसके नेतृत्व का भार भी उन पर आ पड़ा था। इसी कर्त्तव्य को पूरा करने के लिए वे पत्रकार बन गये और जब पत्रकारिता भी अयथेष्ट दीखने लगी, तब राजनीतिक नेता बन कर उन्होंने पोलैंड के लिए क्रान्ति की सेना तैयार करने में अपने

को लगा दिया। अर्थाभाव के कारण उन्होंने प्रोफेसरी भी स्वीकार की थी और कालेज में भी पोलिश छात्रों के भीतर क्रान्ति की भावना भरने के लिए वे बदनाम थे। कविता लिखना बन्द कर देने के बाद वे कहा करते थे, "सपनों के गीत कब तक गाता रहूँ ? अब तो वह समय आ गया है जब कवियों के हाथों उन सपनों को आकार दिया जाना चाहिए, जिनके वे अब तक गीत ही गाते रहे हैं।" मित्सकेविच रोमांटिक कवि थे। रहस्यवाद की कविता, कदाचित्, उन्होंने नहीं लिखी। किन्तु, अपने अन्तिम दिनों में वे रहस्यवादी भी हो गये थे और अदृश्य के स्वप्न में प्रविष्ट होने को वे बहुत बेचैन थे।

मित्सकेविच के काव्य से मेरा परिचय नहीं था। इधर जो थोड़ा-बहुत परिचय हो पाया है, उससे मुझ पर यह प्रभाव पड़ा है कि वे, सचमुच, महाकवि थे एवं उनका स्थान गेटे, पुश्किन और बायरन से नीचे नहीं माना जा सकता। उनकी कविताओं के अनुवाद यूरोप की सभी भाषाओं में उपलब्ध हैं। अंगरेजी में उनकी कविताओं का अनुवाद केलिफोर्निया के प्रोफेसर न्वायस ने किया है। एक और अनुवाद सुश्री मौदे बिग्स का है जो सन् १८८५ ई० में प्रकाशित हुआ था। यह अनुवाद न्वायस के अनुवाद से अधिक अच्छा लगता है। मित्सकेविच की कृतियाँ अरबी और तुर्की में भी आज से कोई पचास वर्ष पूर्व ही आ चुकी हैं।

पोलैंड तबाह और बर्बाद देश है। पिछली लड़ाई के समय हिटलर ने सत्तर लाख पोलिश मानवों का वध करवाया,

जिनमें कलाकारों, मनीषियों और बुद्धिजीवियों की संख्या काफी बड़ी थी। अब तो वारसा फिर से बनकर तैयार हो गया है, फिर भी, वहाँ जाने पर ध्वंस की इतनी कहानियाँ सुनायी पड़ती हैं कि आदमी की यह जिज्ञासा आपसे आप समाधान पा जाती है कि रूस और पोलैंड शान्ति के लिए ऐसी घनघोर पुकार क्यों मचा रहे हैं। शान्ति की पुकार तानाशाही देशों की चाल नहीं है। वह निश्छल पुकार है। शान्ति-शान्ति चिल्लाकर वहाँ की जनता शान्ति ही चाह रही है, युद्ध नहीं।

लंदन, पेरिस, ब्रुसल्स और जिनेवा को देखकर यूरोप के विषय में जो अनुमान हुआ, उससे तो यही कहा जा सकता है कि पोलैंड यूरोप का गाँव है। किन्तु, इस वर्णन से पोलैंड का अनादर नहीं होता। उदाहरणार्थ, पोलैंड में जो ग्रामीण हार्दिकता है, प्रेम-परिचय में वहाँ जो घनत्व है, वह लंदन और पेरिस में नहीं दिखायी पड़ा। मशीनों का उपयोग पोलैंड में भी हो रहा है, किन्तु, आदमी वहाँ मशीन से अभी बहुत कुछ ऊपर है। कदाचित्, यही कारण है कि लौह-प्राचीरों का देश होते हुए भी पोलैंड उन प्राचीरों से बहुत कुछ स्वतंत्र है, प्रत्युत्, जो कुछ मैंने वहाँ देखा उससे मुझे तो यह कहने का कोई आधार नहीं मिलता कि पोलैंड के चारों ओर कोई लक्ष्मण-रेखा भी विद्यमान है। लोग कला का आनन्द लेने में पटु हैं। कलाकारों का सम्मान वे उसी प्रकार करते हैं, जैसे भारतवासी देवताओं और मंत्रियों का।

मित्सकेविच का शताब्दी-समारोह मनाने के लिए निमंत्रण पोलिश एकेडेमी आव् साइंस की ओर से भेजे गये थे और क्या वैज्ञानिक, क्या कवि और क्या प्राध्यापक, अतिथियों के स्वागत में सारे के सारे पोलिश लोग हाथ बाँधे खड़े थे। अल्बानिया, चीन, फ्रांस, इंग्लैण्ड, दोनों जर्मनी, इटली, स्पेन, स्विटजरलैण्ड, रूस, टर्की, अमेरिका, मिस्र, फिनलैण्ड, क्यूबा, बुलगेरिया, युगोस्लाविया, डेनमार्क, इजराइल आदि तीस देशों से कोई एक सौ वैदेशिक अतिथि वारसा पधारे हुए थे, जिनमें से आधे तो कवि थे, बाकी आधे लोग प्राध्यापक, विद्वान अथवा आलोचक रहे होंगे। भारत की ओर से मैं गया था और मेरे साथ उर्दू के प्रसिद्ध कवि सागर निजामी साहब थे। एक विचित्र बात यह देखी कि कवियों और विद्वानों के इस अन्तर्राष्ट्रीय मेले में अंगरेजी की नाव चल नहीं पाती थी। जिन्हें फ्रेंच भाषा का ज्ञान था, वे बड़ी आसानी से लोगों से मिल लेते थे, किन्तु, एकमात्र अंगरेजी माध्यम का भरोसा रखने के कारण मुझे परिचय बढ़ाने में काफी दिक्कत हुई। फिर भी, अंगरेजी के जरिये अथवा दुभाषिया मिल जाने के कारण मैं जिन लोगों के सम्पर्क में आ सका, उनमें से कुछ लोग काफी अच्छे व्यक्ति और ऊँचे साहित्यकार थे। इनमें से श्री पियरे लुई फ्लुके की सज्जनता से मैं काफी प्रभावित हुआ। फ्लुके साहब बेल्जियम के हैं और ब्रुसेल्स में रहते हैं। कविता के सम्बन्ध में फ्रेंच भाषा में वे दो पत्रिकाएँ निकालते हैं, एक वार्षिक और दूसरी मासिक, जिनका यूरोप में बड़ा नाम है। वार्षिक में सरोजिनी नायडू

की कहारोंवाली कविता का फ्रेंच अनुवाद छपा था, जिसे उन्होंने मुझे बड़े उत्साह से दिखाया। रूस से सम्मेलन में तीन कवि आये हुए थे, जिनमें से मेरा परिचय श्री स्टीफेन श्चीपाचोव से अच्छा रहा। श्री श्चीपाचोव की उम्र ६० के करीब होगी। बड़ी ही प्रसन्न मुद्रा के व्यक्ति हैं। सारे समारोह में पोलिश लोग उनका सम्मान सर्वाधिक करते थे। वे एक तरह से इस समारोह में मीर-मजलिस बने हुए थे। लोगों से पता चला कि रूसी भाषा के लिरिक कवियों में श्री श्चीपाचोव का स्थान सर्वोच्च है। क्यूबा के स्पेनिश कवि श्री निकोलस गिलन भी खूब मिलनसार हैं। कविता के लिए उन्हें स्टालिन पुरस्कार भी मिला है। अन्तर्राष्ट्रीय कवि-सम्मेलन में कविता पढ़कर जब मध्यान्तर में मैं बाहर निकला तो दौड़कर वे मुझ से लिपट गये। वे मेरे कमरे में भी जब-तब आकर भारतीय कविता के विषय में बातें करते थे। रूमानिया की एक कवयित्री थीं जो मुझसे काफी हिलमिल गयी थीं। नाम तो उनका याद नहीं है, किन्तु वे छोटी-सी गुड़िया-सी लगती थीं और जब भी बोलतीं मालूम होता, कोई वीणा बज रही है। इसी प्रकार बुलगेरिया की कवयित्री ब्लागा दिमित्रोवा भी बड़ी मिलनसार हैं। छात्र-जीवन समाप्त करके अभी तुरन्त बाहर आयी हैं, किन्तु, कविता के क्षेत्र में उन्होंने अभी ही ख्याति प्राप्त कर ली है।

२८ नवम्बर के संध्या समय अन्तर्राष्ट्रीय कवि-सम्मेलन वारसा के एक संगीत-भवन में आरम्भ हुआ। हाल के भीतर

हम लोग ग्रीन रूम की ओर से सीधे मंच पर लाये गये। एक क्षण के अन्दर मंच पर सभी कवि अपनी-अपनी जगह लेकर बैठ गये। मंच और श्रोता-समुदाय तथा दीर्घा पर जब मैंने दृष्टि डाली, मेरा हृदय आनन्द से भर गया। ऐसे सुसज्जित हाल में मैंने पहले कभी कविता नहीं पढ़ी थी, न यही अनुमान था कि कवि-सम्मेलन में भी ऐसी शान्ति और भव्यता तथा गंभीर सौन्दर्य का ऐसा वातावरण हो सकता है। मंच पर आगे की ओर छह कुर्सियों का अर्ध-मण्डल था, जिन पर बैठनेवाले व्यक्ति, कदाचित्, यूरोप के प्रसिद्ध साहित्यकार रहे होंगे। ऐसा अनुमान मैंने इसलिए लगाया कि रूसी कवि श्चीपाचोव इसी पंक्ति में बैठे या बिठाये गये थे। मैं और सागर साहब दूसरी पंक्ति में बैठे। मंच की बाईं ओर पोलैण्ड के लेखक-संघ के सभापति और पोलिश भाषा के ख्यातनामा कवि इवास्केविच अपने कार्यकर्त्ताओं को लेकर अलग बैठे थे। उन्हीं की मेज पर से कवियों के नाम पुकारे जाते थे। सम्मेलन में कई कवियों ने मित्सकेविच की कविताओं के अनुवाद अपनी भाषाओं में सुनाये। इनकी कविताओं के अनुवाद सुनाये नहीं गये। बाकी जो भी कविताएँ पोलिश या रूसी में नहीं थीं, उनके पोलिश अनुवाद भी सुनवाये जाते थे। इवास्केविच की मेज के पीछे ही एक और मेज थी जहाँ एक अभिनेत्री तथा दो युवक बैठे थे। अनुवाद सुनाने का काम इन्हीं लोगों का था।

हम में से सागर साहब ने मित्सकेविच पर एक नयी कविता लिख रखी थी, जिसका अंगरेजी अनुवाद भी वे भारत से साथ

ले गये थे। मैं कोई नयी कविता न लिख सका था। किन्तु, कुरुक्षेत्र के षष्ठ सर्ग का अंगरेजी अनुवाद मेरे साथ था। यों भी, मैं कोई ऐसी कविता सुनाना चाहता था, जिसमें उस प्रयोग की झाँकी हो जिसमें भारत लगा हुआ है, जिसमें उस भाव की कोई झलक हो जो अति वैज्ञानिकता के विरुद्ध जग रहा है, जिसमें आत्मा के उस आकाश की ओर कोई संकेत हो, जिस पर बादल छाये जा रहे हैं। स्पष्ट ही, मेरी सारी आवश्यकताएँ कुरुक्षेत्र के षष्ठ सर्ग से पूरी होती थीं। अतएव, मैंने उसी के एक अंश का पोलिश अनुवाद करवाने को प्रोफेसर ओलगियर्थ को दे दिया। कवि-सम्मेलन के दिन मुझसे ओलगियर्थ कह गये थे कि आपकी कविता का पोलिश अनुवाद बड़ा ही स्वाभाविक उतरा है।

मैं आरम्भ में इस चिंता से कुछ-कुछ दवा हुआ था कि, न जानें, हिंदी कविता सुनते समय श्रोताओं की क्या प्रतिक्रिया हो। किन्तु, धीरे-धीरे जब मैंने यह देखा कि सभी भाषाओं की कविताएँ जनता पूरे धीरज, बल्कि, उत्साह के साथ सुन रही है, तब मेरी चिंता जाती रही। सूची पर कवियों के नाम अक्षरानुक्रम से रखे गये थे। मेरा नम्बर बारहवाँ था। कविता पढ़ने के लिए कोई खास मेज नहीं रखी गयी थी। जब मेरा नाम पुकारा गया, मैं पंक्ति के आगे बढ़कर खड़ा हो गया। तालियाँ उसी प्रकार बजीं, जैसे सब के खड़े होने पर वजती थीं। और कविता पढ़ने के समय फिर शान्ति भी वैसी ही घनी हो गयी, जैसे सब के पढ़ते समय होती थी। किन्तु, कविता पढ़कर मैं ज्यों ही अपने स्थान पर

लौटा, तालियों की गड़गड़ाहट से भवन का रंध्र-रंध्र गूंज उठा। यह भी कोई असाधारण बात नहीं थी। असाधारणता तब दिखायी पड़ी, जब यह भान हुआ कि तालियाँ रुकनेवाली नहीं हैं। मैं अभिभूत हो उठा। कई कवियों ने आकर मुझसे हाथ मिलाया और कहा कि ऐसे समय आपको जनता के सामने खड़े हो जाना चाहिए। मैं खड़ा हो गया। किन्तु, तब तो जन-समुद्र में तरंगें और भी जोर से उठने लगीं। मैं चकित रह गया कि यह क्या चीज है। अर्थ समझे बिना इतना प्रोत्साहन! किन्तु भीतर से कोई बोल उठा, "यह तुम्हारे लिए नहीं है। यह उनकी अभ्यर्थना है जो तुम्हारे पीछे खड़े हैं। यह गाँधी की अभ्यर्थना है, यह रवीन्द्र की अभ्यर्थना है, यह जवाहरलाल का अभिनन्दन है, यह उस महाध्येय की प्रशंसा है, जिसे लेकर स्वतन्त्र भारतवर्ष संसार के सामने खड़ा हुआ है।" तुरन्त अपने ही मन के भीतर से किसी मसखरे ने आवाज दी "और यह उस अचकन, चुस्त पाजामा और गाँधी टोपी का भी चमत्कार है, जिसके कारण तुम सबसे अलग पहचाने गये हो।" तब बुद्धि बोली, "इसके सिवा, एक और बात है कि अब यूरोप की कविताएँ पढ़कर सुनाने के लिए नहीं, मन ही मन, बाँचकर समझने के लिए लिखी जाती हैं। यह बाजी भारतीय कविता का वह गुण मार रहा है, जिसका विकास मंच पर हुआ है।" मुझे समाधान मिल गया। फिर भी, गुण-ग्राहक जन-समुदाय के सम्मुख मैं सम्मान में विनत रहा।

मेरे पढ़ने के बाद मेरी कविता का पोलिश अनुवाद पोलैंड की सुप्रसिद्ध अभिनेत्री स्करजंका ने सुनाया। स्करजंका की आवाज में जो पौरुष है, जिसे गरजता हुआ दर्द कह सकते हैं। एक सभा में उसने मित्सकेविच की एक लंबी कविता का पाठ कोई घंटाभर तक किया था और सारी सभा उसके काव्य-पाठ पर दंग रह गयी थी। आज भी उसके काव्य-पाठ का जादू अनोखा रहा। जनता फिर तरंगित हो उठी और फिर मुझे बार-बार उठकर सभा-समुद्र को शिरसा नमन करना पड़ा।

१६ कवियों के काव्य-पाठ के बाद मध्यान्तर हुआ और हम लोग चाय पीने को ग्रीन रूम में आ गये। अब सभी कवियों ने मुझसे हाथ मिलाना आरम्भ किया और सबके सब बधाई देने लगे। बुलगेरिया की कवयित्री दिमित्रोवा तथा अन्य दो कवियोंकी पत्नियाँ फोटो के लिए खड़ी हो गयीं तथा ऑटोग्राफ लेने के लिए लड़कों और लड़कियों ने ग्रीन रूम पर धावा बोल दिया।

सागर साहब का नम्बर उनतीसवाँ था। उनका काव्य-पाठ मध्यान्तर के बाद हुआ। उन्होंने, सदा के अनुसार, आज भी, अपनी कविता तरन्नुम में पढ़ी। फिर तो सभा में आनन्द का कोलाहल छा गया। तरन्नुम की शायरी और तराना लगानेवाले सागर निजामी! बधाइयाँ ऐसी बरसीं कि कुछ मत पूछिये।

सम्मान तो हमारा भारतवासी होने के कारण पहले से ही था, किन्तु, अन्तर्राष्ट्रीय कवि-सम्मेलन के दूसरे दिन से

उसमें स्पष्ट वृद्धि हो गयी। हाँ, कवि-सम्मेलनों में सफलता-पानेवाले कवि के प्रति जो द्वेष भारत में अनायास फैलता है, उसकी बानगी वारसा में भी देखी। कवि-सम्मेलन के दूसरे दिन रात के समय मैं और सागर डाईनिंग हाल में भोजन करके सिगरेट पी रहे थे। पास की मेज पर फिनलैण्ड के एक कवि बैठे थे। शायद, कुछ नशे में रहे होंगे। हमें सुनाकर बोले, "अगली बार जब मैं कविता सुनाने आऊँगा तब अपनी वायलिन साथ लाना हरगिज नहीं भूलूँगा।" चोट करारी थी और सागर को वह लग भी गयी। मगर, मुस्कुराते हुए ही उन्होंने कहा, "समझ गया। यह चोट मुझ पर है।" इस पर बेचारा फिनिश कवि झेंप गया और शर्म छिपाने को कहने लगा कि "नहीं, मैं यह कहना चाहता था कि कविताएँ मैं भी गा सकता हूँ। आप लोग मेरे कमरे में चलिये। मैं अपनी कविताएँ आपको गाकर सुनाऊँगा।" सौजन्य के कारण हम कवि के साथ उनके कमरे में गये और उन्होंने अपनी कविताएँ गा-गाकर हमें सुनायीं भी। मगर कहाँ सागर की तरन्नुम और कहाँ उस ऊँघते फिनिश कवि का ऊँघता गीत! हम थोड़ी देर बैठकर अपने कमरे में चले गये।

अन्तर्राष्ट्रीय कवि-सम्मेलन का एक आयोजन वारसा युनिवर्सिटी में भी हुआ, जहाँ छात्रों, छात्राओं तथा प्राध्यापकों ने कवियों का स्वागत बड़े ठाट से किया। हम लोगों ने यहाँ भी वे ही कविताएँ सुनायीं जो पहले दिन सुनायी थीं और उनके पोलिश अनुवाद भी सुनाये गये। मेरे बाद कविता पढ़ने को

इंगलैण्ड के कवि लारी ली खड़े हुए। ली साहब जरा मस्त तबीयत के आदमी हैं। मेरी तरफ देखकर उन्होंने अपनी कविता का शीर्षक घोषित किया "बाम्बे अराइवल दैट इज़् द फर्स्ट इंगलिशमैन लैंडिंग इन बाम्बे।" मुझे लगा, ली मुझे देखकर ही यह कविता सुना रहे हैं। इसलिए, मैंने भी एक हल्की चोट की, "मिस्टर ली, यू कुड राइट ए मोर एलेगेंट पोयम आन बाम्बे डिपार्चर नाउ।" ली से जवाब देते नहीं बना। उन्होंने हाथ जोड़कर मुझे प्रणाम किया जैसे मैं करता था। सभा में जोर का ठहाका उठा जिसमें हम लोगों की भी हँसी शामिल थी। श्चीपाचोव अंगरेजी नहीं जानते हैं। इसलिए, दुभाषिये के द्वारा उन्हें इस मजाक का हाल बताना पड़ा। फिर तो वे भी खूब हँसे।

वारसा में अन्तर्राष्ट्रीय कवि-सम्मेलन हुआ और वह बहुत ही सफल रहा। जनता ने उनका भी हौसला बढ़ाया, जिनकी कविताएँ वह समझ सकती थी, और उनका भी जिनकी कविताओं के केवल अनुवाद ही उसके पल्ले पड़े। किन्तु, यदि हम भारत की चौदह भाषाओं के कवियों को एक मंच पर एकत्र करें तो क्या होगा? क्या जनता प्रत्येक भाषा के कवि को निश्छल प्रेम देगी? या जो भाषा वह नहीं समझती है, उसकी कविताएँ सुनते समय बेवकूफी की हँसी हँसेगी? यदि शान्त रहकर निश्छल सत्कार देगी तो भारत भी सुसंस्कृत देश है। यदि नहीं, तो संस्कृति के अभिमानी इस प्राचीन देश को अभी पोलिश जाति से भी कला-प्रेम और सौजन्य की शिक्षा लेनी चाहिए।

पोलैण्ड की भाषा और साहित्य

पोलिश भाषा स्लाव-परिवार की है। पूज्यवर राहुलजी कहा करते थे कि स्लाव भाषाएँ संस्कृत के बहुत समीप हैं। इसके कुछ थोड़े प्रमाण मुझे भी मिले। एक दिन मैं ओपेरा देख रहा था कि बाहर निकलने की हाजत हुई। अब जो बाहर निकला तो अंगरेजी जाननेवाला कोई व्यक्ति नहीं। मैंने जब 'बाथ', 'ट्वायलेट', 'यूरिनल', अनेक शब्द कहे तब एक आदमी मेरा अभिप्राय समझ गया और उसने 'नीज़े', 'नीज़े' कहकर नीचे जाने का संकेत किया। और, सचमुच, 'त्वायलेत' नीचे ही था। पीछे पता चला कि मांस को पोलिश भाषा में म्यांसो कहते हैं, पीने को पिच, माता को मातका, भ्राता को व्रात और आँख को ओको। इसी प्रकार, गोमांस के लिए वहाँ गव्यादीन शब्द चलता है। सम्मेलन में बाहर से प्रोफेसर रेगमे भी आये हुए थे। उनकी आकृति शुद्ध ब्राह्मण की-सी लगी। वे यूरोप में अभी संस्कृत के सबसे बड़े ज्ञाता समझे जाते हैं। उन्होंने भी कहा कि ट्यूटनिक और लातीनी भाषाओं की अपेक्षा स्लाव भाषाएँ संस्कृत के अधिक समीप हैं जिससे यह अनुमान होता है कि भारत और स्लाव देशों के आर्यों के पूर्वज कुछ अधिक समय तक साथ रहे होंगे।

प्रशियन भाषा भी संस्कृत के अत्यन्त समीप थी, किन्तु, सतरहवीं शताब्दी में उसका चलन रुक गया। अब लिथूनियन

भाषा ही ऐसी है जो स्लाव भाषाओं में संस्कृत के सर्वाधिक निकट है। रूसी कवि श्चीपाचोव रूसी भाषा में ही बोलते थे और उस समय बराबर मुझे संस्कृत वाक्यों की यति याद आती थी।

पोलैण्ड में मुझे यह भी जानने की इच्छा हुई कि यहाँ विज्ञान के पारिभाषिक शब्दों का क्या हाल है। क्या पोलैण्डवालों ने अपने शब्द बनाये हैं या वे अन्तर्राष्ट्रीय शब्दों को ही लेकर काम चला रहे हैं? पता चला कि पोलैण्ड में विज्ञान के, प्रायः, आधे से अधिक शब्द पोलिश हैं अथवा वे अन्तर्राष्ट्रीय शब्दों के पोलीकृत रूप हैं। वैसे, बहुत-से चालू अन्तर्राष्ट्रीय शब्दों के लिए भी पोलैण्ड में पोलिश शब्द ही चलते हैं। उदाहरणार्थ, पोलैण्ड-वाले आक्सीजन को 'त्लेन' (Tlen) कहते हैं और हाइड्रोजन को वोदोराद (Wodorod)। Wodor वाटर से बना होगा जिसका अर्थ है वह तत्व जिससे जल उत्पन्न होता है। यहाँ अपने देशवासियों की विचित्र रुचि की याद आयी जिन्हें हाइड्रोजन आसान और जलाणु कठिन मालूम होता है। इसी प्रकार, कार्बन को वहाँ वेगील (Wegiel) कहते हैं जिसका अर्थ कोयला है। प्रोफेसर लांगे से इस विषय पर बात हुई तो उन्होंने बताया कि पोलैण्ड की सामान्य रुचि सभी शब्दों के पोलीकरण की ओर थी। किन्तु, विज्ञान की प्रगति जिस तेजी से हुई, उस तेजी से पोलिश भाषा उसे पचा नहीं सकी। यहाँ मैं फिर अपने देश की बात सोचने लगा। पोलैण्ड में तो, खैर, विज्ञान की थोड़ी बहुत राष्ट्रीय परंपरा भी थी, किन्तु, हमने तो

जो कुछ सीखा है, अंगरेजी के जरिये ही सीखा है। हम क्या करें? यदि पोलिश भाषा तेजी से विज्ञान को न पचा सकी तो भारतीय भाषाएँ उसे पचा सकेंगी क्या? प्रश्न दो प्रकार के हैं। एक तो विज्ञान का पूरा यूरोपीय उत्तराधिकार हमें भारतीय भाषाओं में ले आना है। दूसरे, विज्ञान का मौलिक चिन्तन भी, कभी न कभी, हमें भारतीय भाषाओं में करना है। कोष रचकर हम अंगरेजी शब्दों के प्रतिशब्द तो दे सकते हैं, किन्तु, प्रतिशब्दों में जिन्दगी की गर्मी तभी आ पायेगी जब वे सम्यक् प्रयोग में आयेंगे। मुझे यह भासने लगा कि अंगरेजी शब्दों के भारतीय प्रतिशब्द जरूर बनाये जायँ, किन्तु, उन प्रतिशब्दों के अंगरेजी रूपों के चलन के लिए भी द्वार मुक्त रहना चाहिए। नहीं तो, विज्ञान में हम गच्चे खा जायेंगे। राष्ट्रीयता के जोश में हमें विज्ञान की प्रगति को नहीं रोकना है। विज्ञान, स्वभाव से ही, अन्तर्राष्ट्रीय है।

प्रोफेसर लांगे हमारे योजना-आयोग के भी सलाहकार हैं। उन्हें देखा कि लिखकर वे हिन्दी सीख रहे हैं। उनके घर में संस्कृत का व्याकरण और वेदों के भाष्य भी दिखायी पड़े। १६ वीं सदी में यूरोप में संस्कृत साहित्य के प्रति जो उत्साह जगा था, उसकी लहर पोलैण्ड में भी फैली थी। स्लावनिक भाषाओं में खोज करते-करते लोग संस्कृत तक जा पहुँचे और संस्कृत का अनुवाद वे अपनी भाषाओं में प्रकाशित करने लगे। उपनिषदों के कई पोलिश अनुवाद मैंने प्रोफेसर लांगे के यहाँ देखे। कुछ जिल्दें भारतीय धर्म पर भी देखीं। स्वेंचित्स्की नामक

एक विद्वान् ने १६ वीं सदी में भारतीय साहित्य पर एक मोटी जिल्द पोलिश भाषा में प्रकाशित की थी। भारतीय धर्म पर पुस्तक प्रोफेसर शायर ने लिखी। शायर पिछले युद्ध में मारे गये।

जिन-जिन देशों में साम्यवाद पहुँचता है, वहाँ साहित्य साम्यवादी दर्शन के अनुसार नियंत्रित कर दिया जाता है। साम्यवादी दर्शन में धर्म की प्रशस्ति नहीं चल सकती, क्योंकि धर्म अफीम का काम करता है। साम्यवादी दर्शन में रहस्यवाद निन्दनीय समझा जाता है, क्योंकि वह मनुष्य की भावना और विचार को अनुपयोगी दिशा की ओर ले जाता है। साम्यवादी दर्शन में ऐसे साहित्य को भी चलने देने की मनाही है जिससे समाज में विलासिता या कदाचार बढ़ते हों अथवा आत्महत्या, निराशा और उदासी का प्रचार होता हो। युद्ध के बाद पोलैण्ड में भी साहित्य का यह नियंत्रण हुआ, किन्तु, नियंत्रण से निकला हुआ साहित्य जनता को रुचिकर न हो सका। अतएव, अब वहाँ नियंत्रण ढीला कर दिया गया है। फिर भी, वह मौजूद है। लेखक और कवि तो सचेत साम्यवादी होने के कारण रहस्यवाद और रोमांसवाद की रचनाएँ नहीं करते, किन्तु, जनता में दोनों के लिये चाव है अन्यथा मित्सकेविच और स्लोवास्की की कविताओं को वह चाव से नहीं पढ़ती।

पोलैण्ड ओपेरा का देश है। इंग्लैण्ड में नाटक अच्छे होते हैं, किन्तु, ओपेरा तो बस पोलैण्ड के ही देखने योग्य हैं।

मैंने पोलैण्ड के अनेक नगरों में कई ओपेरा देखे और सबके सब मुझे अच्छे लगे। किन्तु, यहाँ भी स्पष्ट दिखलायी पड़ा कि मंच का सांस्कृतिक महत्व पोलैण्ड के शासकों के सामने स्पष्ट है और वे मंचों से कोई भी ऐसी चीज दिखलाने के विरुद्ध हैं जिससे साम्यवादी दर्शन को धक्का लगता हो। वहाँ प्रत्येक नाटक का मोड़ साम्यवादी दर्शन की ओर होता है। इसे स्पष्ट करने के लिए, उदाहरण के तौर पर, एक ओपेरा की व्याख्या करूँगा। क्रैकोव में मैंने एक ओपेरा देखा जो शीरीं-फरहाद की कहानी पर विरचित है। इसकी रचना नाजिम हिकमत नामक एक तुर्की नाटककार ने की है जो अब स्वदेश से निर्वासित होकर रूस में रहते हैं। कहानी में फरहाद चित्रकार के रूप में दिखलाया गया है। शीरीं बीमार है। उसकी बड़ी बहन देश की रानी है। रानी अपने सौन्दर्य की बलि देकर शीरीं को अच्छा करती है। शीरीं का फरहाद से प्रेम हो जाता है और रानी भी फरहाद पर, मन ही मन, मरने लगती है। इसलिए, फरहाद और शीरीं का ब्याह नहीं हो पाता। तब ईरान में अकाल पड़ता है और रानी फरहाद से कहती है कि यदि तुम पहाड़ काटकर जनता के लिए पानी ला सको तो शीरीं तुम्हें मिल जायगी। फरहाद इस कार्य में सफल हो जाता है। पानी आने लगता है, किन्तु, नहर में अभी और काम बाकी है। फरहाद जनता का पूजनीय वीर हो जाता है और सारी जनता उसके इशारों पर चलने लगती है। इस स्थिति से घबरा कर या प्रसन्न होकर रानी शीरीं को फरहाद के पास भेज देती है। शीरीं फरहाद से कहती है

कि अब कोई रुकावट नहीं है, इसलिए, आओ हम ब्याह कर लें। किन्तु, फरहाद इस प्रस्ताव को यह कहकर ठुकरा देता है कि अभी जनता के बहुत-से काम बाकी हैं। अभी और ठहरो। विवाह अब जनता का सारा कार्य पूरा करके करेंगे। स्पष्ट ही, इस नाटक की शिक्षा यह है कि कर्त्तव्य प्रेम से बड़ा है और समाज की आवश्यकता के लिए व्यक्ति को अपनी भावनाओं का बलिदान करना ही चाहिए।

नाटक देखते-देखते अपने देश की याद आयी। सुना था, जब 'देवदास' फिल्म पहले पहल निकली, तब कलकत्ते की झील में नगर के अनेक युवक प्रेमियों ने आत्म-हत्याएँ की थीं। और, इस दुष्परिणाम के बावजूद 'देवदास' अति उत्तम चित्र माना जाता है। हमारे साम्यवादियों में भी विचित्रता है। जहाँ विरोध करना ध्येय है, वहाँ तो वे उनका भी विरोध करते हैं जो प्रगतिशीलता की राह पर बहुत आगे जा चुके हैं। और, जहाँ उन्हें विरोध नहीं करना है वहाँ वे रहस्यवादियों की भी उड़-उड़कर तारीफ करते हैं। प्रगतिशीलता की जो कसौटी भारत में तैयार हुई थी उसे साम्यवादियों ने संदिग्ध बना डाला। यदि यह कसौटी सन् १६३५ ई० से बरकरार चली आयी होती तो हमारे यहाँ भी स्वस्थ साहित्य को बहुत बल मिला होता।



पोलैण्ड की अर्थ-व्यवस्था के कुछ मनोरंजक पहलू

साम्यवादी राज्य की एक विशेषता यह भी है कि वहाँ, प्रायः, प्रत्येक व्यक्ति को कुछ-न-कुछ काम करना पड़ता है। पोलैण्ड में यह पता तो नहीं चला कि बैठकर खानेवाले को वहाँ कोई दंड दिया जाता है या नहीं, किन्तु, काम करने की प्रवृत्ति वहाँ, प्रायः, सब में दिखायी पड़ी। पिता, पति या संरक्षक की कमाई पर जीना, कदाचित्, दंडनीय नहीं है, क्योंकि दो-एक पोलिश मित्रों को जान गया हूँ जिनकी पत्नियाँ काम नहीं करतीं। फिर भी, देश की अधिकांश नारियाँ स्वयं काम करती हैं और परिवार की आय केवल पुरुषों के अर्जन पर ही निर्भर नहीं है। श्रम का महत्व वैसे तो सारे यूरोप में है और उसका सुफल पोलैण्ड भी पा रहा है।

एक दिन वारसा का बाजार देखने गया तो वहाँ का हाल देखकर दंग रह जाना पड़ा। सभी दूकानें वहाँ सरकार की होती हैं। यह, प्रायः, देखने में आता है कि एक ही मकान के अन्दर विभिन्न तल्लों पर आप को सभी सामान मिल जाते हैं। अपने यहाँ की पान की दूकान के सदृश कुछ अत्यन्त छोटी-छोटी दूकानें भी दिखायी पड़ीं जिनके बारे में मुझे बतलाया गया कि वे सरकारी नहीं हैं। किन्तु, यह साधारण बात है। विस्मित होने की बात यह रही कि चीजों के दाम सुनकर तबीयत चकरा गयी। एक जोड़ी साधारण जूते का दाम एक हजार स्लोती (रुपये)

लिखा था। औरतों के मामूली वैनिटी बैग वहाँ साढ़े तीन सौ के मिलते हैं। और साबुन की एक टिकिया का दाम पैंतीस रुपये होता है। सागर ने एक मामूली छड़ी खरीदी जिसके लिए बाईस रुपये देने पड़े। मैंने एक गुड़िया खरीदी जिसके ९८ रुपये लगे। किन्तु, इस स्थिति का अंदाज हमें होटल में ही लग गया था, क्योंकि वहाँ से हम जो सिगरेट खरीदते थे उसके बीस के पैकेट का दाम साढ़े बारह रुपये देना पड़ता था।

हम लोग जिस होटल में ठहराये गये थे उसका नाम होटल ब्रिस्टल था और उसका ठाट बड़ा ही अमीराना था। मेरे मन में यह जिज्ञासा उठी कि इसमें जो व्यक्ति रोज भोजन करेगा उसे क्या देना होगा। हिसाब लगाने पर पता चला कि होटल ब्रिस्टल में ३० दिनों तक रोज एक समय नाश्ता और दो समय भोजन का खर्च बारह सौ रुपये से ऊपर होगा।

अब मैं यह जानने की कोशिश करने लगा कि यहाँ वेतन का क्या सिलसिला है। पता चला कि पोलैण्ड के मंत्री प्रति मास साढ़े सात हजार स्लोती पाते हैं और उपमंत्री कोई छह हजार स्लोती। प्रोफेसर का वेतन चार हजार और असिस्टेंट प्रोफेसर का तीन हजार स्लोती है। अखबार के प्रधान संपादक साढ़े चार हजार के लगभग पाते हैं और मेहतरों का मासिक वेतन पन्द्रह सौ स्लोती है। हाँ, मजदूरों में कोयला खान के मजदूर बहुत अच्छे हैं। उनका मासिक वेतन तीन से साढ़े तीन हजार तक है। इसके अतिरिक्त, उन्हें घर और

पोशाक मुफ्त मिलती है और समय-समय पर उन्हें ईनाम भी दिये जाते हैं।

जैसा कि पहले बतला चुका हूँ, पोलैण्ड में कवियों और कलाकारों का बड़ा सम्मान है और यह सम्मान केवल वाचिक ही नहीं, आर्थिक भी है। प्रत्येक प्रसिद्ध अभिनेता और अभिनेत्री को राज्य की ओर से प्रति मास दो हजार रुपये वेतन दिया जाता है। इसके सिवा, प्रत्येक खेल के उन्हें पाँच सौ रुपये रायल्टी के तौर पर मिलते हैं। कवि की जो पुस्तक प्रकाशन के लिए स्वीकार की जाती है, राज्य की ओर से उसकी रायल्टी की काफी बड़ी रकम उसे प्रकाशन के पूर्व ही मिल जाती है। पुस्तक की प्रतियाँ बिकीं या नहीं, इस स्थिति का कवि की मुख्य आय के साथ कम संबंध है या कह सकते हैं कि कोई संबंध नहीं है, क्योंकि बाद के संस्करणों पर रायल्टी नाममात्र को ही दी जाती है।

यह अच्छी स्थिति है, किन्तु, इसे हम संतोषजनक नहीं कह सकते। इसलिए, मैंने जानना चाहा कि इसके सिवाय कवि की और क्या आय है। पता चला कि प्रत्येक कवि किसी-न-किसी अखबार के दफ्तर में भी काम करता है जहाँ से उसे दो से लेकर साढ़े तीन हजार रुपये तक मिल जाते हैं। अभी तो शान्ति-समिति के भी बहुत-से काम फैले हुए हैं और लिखनेवालों की आय का एक जरिया वह भी है। भारत की तरह, वहाँ के भी कवि रेडियो में काम करते हैं। असल में, पोलिश कवि की आमदनी के अनेक रास्ते हैं, जैसे रेडियो, सिनेमा, पत्र-पत्रिकाओं, ग्रामोफोन, मंच और नाटक में ली जानेवाली

कविताओं की रायल्टी और प्रसिद्ध होते ही विभिन्न नगरों की ओर से मिलनेवाले पुरस्कार। भारत में तो अभी यह परम्परा ही नहीं बनी है कि नगर-विशेष अपनी पसन्द के कवि को बुलाकर उसे पुरस्कृत करें।

पोलैण्ड में अनेक बार यह सुना कि यहाँ का सबसे सुखी वर्ग कवियों और कलाकारों का वर्ग है। इस वर्ग की आय भी अधिक है और उसे आय-कर भी कम देना पड़ता है। पोलैण्ड के इनकम टैक्स कानून में कवियों के लिए खास रियायत रखी गयी है। कवि और कलाकार पोलैण्ड में भी करोड़पति नहीं हैं, किन्तु, वहाँ वे अमीर जरूर हैं और यह सुख केवल उन्हीं को नहीं है जो बहुत प्रसिद्ध हैं, बल्कि, उन सभी लोगों को जो कला का पेशा अख्तियार किये हुए हैं। प्रसिद्ध होते ही पोलैण्ड के कवि अपने देश के सांस्कृतिक दूत हो जाते हैं और सरकार उन्हें बाहर भेजती ही रहती है। यह ठीक है कि अधिक रुपये जमा करके वे उद्योग या व्यापार खड़ा नहीं कर सकते, किन्तु, तब वे मकान खरीद सकते हैं, मोटर ले सकते हैं तथा चित्र और मूर्त्तियाँ खरीदकर अपने घरों को सजा सकते हैं।

पोलैण्ड में औसत प्रोफेसर को जो वेतन मिलता है उसे न्यून समझना चाहिए। किन्तु, जो प्रोफेसर बाहरी काम कर सकते हैं (अर्थात् अनुवाद का काम, पुस्तक लिखने का काम आदि) वे बाहर से वेतन की अपेक्षा अधिक कमा लेते हैं। प्रोफेसर एबांस्की ने बताया कि उनकी पत्नी भी काम करती हैं और एबांस्की खुद अनुवाद वगैरह से वेतन की अपेक्षा अधिक पैसे

कमा लेते हैं। उन्हीं ने यह भी बताया कि कोयला-खान के मजदूर कभी-कभी इतने पैसे कमा लेते हैं कि उनकी आमदनी कवि और प्रोफेसर की आमदनी से भी बढ़ जाती है।

पोलिश किसान, अधिक से अधिक, ५० बिघा जमीन रख सकता है। जो किसान अपने बाल-बच्चों के साथ स्वयं खेती करते हैं उन्हें सरकार की ओर से भी सहायता दी जाती है और उन्हें आय-कर भी नहीं देना पड़ता। किन्तु, जो किसान खेती के लिए मजदूर रखते हैं उन्हें सरकारी सहायता तो दी ही नहीं जाती, उल्टे, उनपर इनकम टैक्स भी लगाया जाता है।

पोलैण्ड की आर्थिक व्यवस्था में दो सिद्धान्त हैं जो बहुत अच्छे हैं। एक तो नियत कार्य-समय से फाजिल काम करने के लिए विशेष प्रोत्साहन, जिससे प्रत्येक सुयोग्य व्यक्ति का सारा समय काम में लगा रहे। और, दूसरा, उन कामों के लिए अधिक वेतन देना जो स्वास्थ्य के लिए बुरे और जीवन के लिए संकटपूर्ण हैं। यदि मेहतरों की आमदनी चार हजार प्रति मास होती तो पोलैण्ड की आर्थिक व्यवस्था की हम और प्रशंसा करते।

यूरोप कैसा लगा ?

पोज़न से लौटकर हम वारसा आये। उस दिन संस्कृत के प्राध्यापक डाक्टर स्लुस्कोविच भी वारसा में ही थे। अतएव, उन्होंने कृपापूर्वक मुझे घर बैठे ही दर्शन दिये और भारत से अपना प्रगाढ़ प्रेम दिखाया। उनका स्वभाव सरल और चित्त निर्मल मणि के समान है।

वारसा से हमने आठ दिसम्बर को लंदन की ओर प्रस्थान किया। ब्रुसेल्स हम लगभग नौ बजे रात में पहुँचे। पता चला कि लंदन में सघन कुहासा लगा हुआ है, इसलिए, जहाज आज रात भर नहीं जायगा। हवाई कंपनी ने रात भर के लिए हमें ब्रुसेल्स होटल में ठहरा दिया। यह भी अच्छा ही हुआ, क्योंकि ब्रुसेल्स ठहरने का हमारा कार्यक्रम नहीं था। फिर भी, भाग्य ने हमें जबर्दस्ती ब्रुसेल्स शहर दिखला दिया।

रात में हम खाने-पीने और शहर देखने को बाहर निकले। एक अंगरेज यात्री हमारे साथ हो गये और घूम-घूमकर उन्होंने थोड़ी ही देर में सारा शहर दिखला दिया। मध्य रात्रि के विद्युत्-प्रकाश में ब्रुसेल्स मुझे अत्यन्त सुहावना दिखायी पड़ा। इस नगर की नैश श्री लन्दन से भी अच्छी है।

प्रातःकाल हम उड़कर लंदन पहुँचे। अड्डे पर दूतावास से एक सज्जन आये हुए थे। उन्होंने हमारे ठहरने का इन्तजाम रसल स्क्वायर के इम्पीरियल होटल में करवा दिया था। होटल

में उतरने के बाद हमें ऐसा अनुभूत हुआ कि हम अपने घर आ गये हैं, क्योंकि अब हम एक ऐसे देश में पहुँच गये थे, जहाँ भाषा की दीवार नहीं थी।

लंदन जितने दिन रहा, बड़े आनन्द से रहा। किरण, वीरेन्द्र, वटुकदेव आदि मित्र तो थे ही, वहाँ भारत और बिहार के बीसियों मित्रों से भेंट हो गयी और विदेश का वातावरण जाता रहा।

लंदन नगर का रूप-रंग कलकत्ते के समान है। फर्क यह है कि लंदन कलकत्ते का बड़ा भाई मालूम होता है। यह भी कि लंदन में सुरंग होकर चलनेवाली गाड़ियाँ हैं जो कलकत्ते में नहीं हैं। और कलकत्ते में जो चमक चौरंगी की है, कुछ बड़े पैमाने पर, वही चमक लंदन के पिकेडली सरकस में मिलती है। एक विचित्रता यह भी देखी कि लंदन के ऊँचे आलीशान मकान बाहर से काले और मटमैले दीखते हैं। लोगों ने बताया कि लंदनवाले मिजाज से पुरातनता के प्रेमी हैं और मकानों में पुरानेपन की झलक को वे पसन्द करते हैं।

भारतीय छात्रों ने यह भी बताया कि लंदन में काले-गोरे का भेद काफी चलता है, यद्यपि, अंगरेजों का यह दोष आसानी से पकड़ायी नहीं देता। कभी-कभी ऐसा होता है कि किराये का मकान लोग फोन पर ठीक कर लेते हैं। किन्तु, जब वे मकान लेने को पहुँचते हैं तब उनका काला रंग देखकर मकान-मालिक अपनी बात को पलट देता है और स्पष्ट कह देता है कि अभी पाँच मिनट पहले वह मकान किसी दूसरे

किरायेदार को दे चुका है। जहाँ-तहाँ यह भी सुना कि जब अंगरेजों को यह मालूम होता है कि आगन्तुक पाकिस्तानी नहीं, हिन्दुस्तानी है, तब उनके चेहरे उतर जाते हैं। ये सारी बातें जानकर मन को क्लेश पहुँचा और ब्रिटिश जाति के स्वभाव के इस पक्ष से निराशा हुई।

छात्रों ने यह भी बताया कि हम जब अकेडेमिक भाषणों में भी अमेरिका की आलोचना करते हैं तब यह बात अध्यापकों द्वारा नोट कर ली जाती है और इसका प्रतिशोध अध्यापक कटूक्तियों द्वारा निकालते हैं। पर, यही कटूक्ति अन्य देशों के छात्रों को नहीं सुननी पड़ती। मुझे ऐसा भासित हुआ कि, कम-से-कम, पी-एच० डी० की उपाधि के लिए युवकों को वर्षों तक इंगलैण्ड में सड़ाना अनावश्यक है। मैंने अधिक छात्रों को इंगलैण्ड से आजिज और परेशान तथा घर लौटने को अत्यन्त लालायित पाया। क्या यह नहीं हो सकता कि पुस्तकालयों एवं विश्रुत विद्वानों की संगति से लाभ उठाने को छात्र कुछ थोड़े दिनों के लिए इंगलैण्ड भेजे जायँ, बाकी वे थीसिस लिखने का काम यहाँ स्वदेश लौट कर ही करें? और यहाँ से थीसिस की प्रतियाँ तो परीक्षा के निमित्त कहीं भी भेजी जा सकती हैं।

जब हम यूरोप भ्रमण कर रहे थे, उस समय रूस के नेता बुलगानिन और ख्रुश्चेव भारत में मौजूद थे। उनके स्वागत-सत्कार और नीति-आख्यान के संवाद सारे संसार में छप रहे थे और सारा पश्चिमी यूरोप उन दिनों भारत से जला हुआ

था। लोग तो हमारी आकृतियों से ही यह समझ जाते थे कि हम हिन्दुस्तानी हैं। फिर, जब उन्हें यह मालूम होता कि हम कम्युनिस्ट देश से आ रहे हैं, तब उनका मुँह बिदक जाता। ब्रुसेल्स में एक अजनबी यूरोपियन मुझे सुनाकर बोला, "पोलैण्ड जाना कौन बड़ाई की बात है ? पोलैण्ड गंदा देश है।" जिस अंगरेज ने हमें ब्रुसेल्स शहर घुमाया था, वह भी रह-रहकर पोलैण्ड और रूस की निन्दा करता जाता था। एकाध व्यक्ति ने यह भी सवाल किया कि क्या भारत कम्युनिस्ट हो रहा है। लोगों को कोई भी बात ठीक से समझाना कठिन था। *भारत कम्युनिज्म के तानाशाही रूप का विरोधी है,* इसमें मैंने किसी भी यूरोपियन का विश्वास नहीं देखा। सब यही समझते थे कि भारत के लोग "फेलो ट्रैवलर" हैं। उन दिनों, हमारे राजदूत भी इसी समस्या को लेकर परीशान थे।

रूस तो मैं गया नहीं जिससे यह जान सकूँ कि वहाँ कम्युनिज्म की उपलब्धियाँ कैसी हैं। हाँ, बिल्ली को देखकर जैसे बाघ का अनुमान होता है, वैसे ही पोलैंड को देखकर रूस की कल्पना की जा सकती है। किन्तु, रूस की उपलब्धियाँ बहुत बड़ी हैं, यह सब लोग कहते हैं। फिर भी, इंगलैण्ड, फ्रांस और स्वीजरलैण्ड में समृद्धि और सभ्यता का जो रूप दिखायी पड़ा, वह बहुत ही उत्तम है। उसमें नफासत है, बारीकी है और है वह सुगन्ध जो व्यक्ति की स्वतंत्रता से फैलती है। लंदन, ब्रुसेल्स और पेरिस में भारत के ही समान वेश्यावृत्ति का प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है, किन्तु, कम्युनिज्म जहाँ-जहाँ गया है, इस दोष को उखाड़ता

गया है। मगर, एक दूसरी बात भी है जिसे भुलाना कठिन है। चेकोस्लोवाकिया बड़ा ही उन्नत देश था। किन्तु, अब वह कम्युनिज्म के अधीन है। वहाँ हम लोग थोड़ी देर के लिए ही उतरे थे। होटल में नाश्ता करने को गये तो सामने जो रोटी आयी उसे हम किसी भी तरह निगल नहीं सके। पता नहीं, यह दरिद्रता का सबूत था या कुप्रबन्ध का। मेरा साधारण मत यह बना है कि कम्युनिज्म स्वभाव से स्थूल है। बारीकी और नफासत उसे बुर्जुआ समाज से सीखनी होगी। बुर्जुआ के विनाश के साथ अगर बारीकी और नफासत भी विदा हो गयी तो इससे संस्कृति की हानि होगी।

लंदन में एक पत्रकार मुझसे कुछ बात करने आये। जब उन्होंने देखा कि मैं रेजिमेंटेशन से रुष्ट हूँ, उनका हौसल बढ़ गया और वे मुझसे बातें निकालने की कोशिश करने लगे। मैंने निवेदन किया कि "भारतीय को तो रूस और इंगलैंड बहुत कुछ समान दीखते हैं। जहाँ तक प्रजातंत्री ढाँचे का सवाल है, उसे हम कबूल कर चुके हैं और इस पद्धति से अगर साम्यवादी विचारवाले लोग प्रभुत्व में आ गये तो हम तो उसे भी प्रजातंत्र ही कहेंगे बशर्ते कि साम्यवादी लोग आगे भी प्रजासत्ता को खुल कर चलने दें। विरोध हमारा माइनारिटी कूप से है, विरोध हमारा तानाशाहों की हिंसात्मकप द्धति स है। उसे हम भी रोकना चाहते हैं। इससे ऊपर संस्कार और विचारों का जो स्तर है, वहाँ आप सभी पाश्चात्य लोग समान हैं। तानाशाहों ने विज्ञान का सहारा लेकर मनुष्य

के मन के चारों ओर लक्ष्मण-रेखा खींच दी है। किन्तु, वैसी ही रेखा अन्य देशों में भी है, यद्यपि, इस रेखा को तानाशाह ने नहीं, व्यक्तियों ने स्वेच्छा से खींचा है। इसीलिए तो, एमर्सन और थुरो, रोम्याँ रोलाँ और टालस्टाय तथा इलियट आपके यहाँ विदेशी लगते हैं। भारत गरीब देश है और गरीब लोग पहले रोटी चाहते हैं। इसलिए, जहाँ तक समाज में समत्व लाने का सवाल है, हम कम्युनिज्म के सार को प्रजातंत्री ढंग से अपने यहाँ लाना चाहते हैं। हमारे यहाँ खोना तो बहुत कम लोग को पड़ेगा। अतएव, हमें रूस और चीन से भय नहीं लगता। भय हमें तब लगता है जब हम यह देखते हैं कि वैज्ञानिक सुविधाओं की अधीनता स्वीकार करके मनुष्य अपने सूक्ष्म रूप से दूर होता जा रहा है। और भारत के इस पिछले भय का कारण केवल रूस ही नहीं, इंगलैंड और अमेरिका भी हैं। यूरोप और अमेरिका समृद्ध देश हैं, अतएव, उनकी समस्या कम्युनिज्म का अवरोध है। एशिया निर्धन महादेश है। अतएव, हम वह मार्ग खोज रहे हैं जिस पर चलकर हम सामाजिक समत्व को प्रजातंत्री ढंग से ला सकें।" यह सुनकर पत्रकार भाई का उत्साह ठंढा पड़ गया। आश्चर्य मुझे तब हुआ, जब वे, क्षण भर मौन रहकर बोले, "तो सचमुच ही, भारत लाल होनेवाला है।"

मैंने कहा, "लाल नहीं, श्वेत होनेवाला है। हम अपनी क्रान्ति गाँधीजी के नेतृत्व में पूरी कर चुके हैं। वह श्वेत क्रान्ति थी और आगे भी इसी श्वेत क्रान्ति के फल प्रकट होते

रहेंगे। भारत पहुँचकर चाहे तो कम्युनिज्म अहिंसा का वरण कर लेगा अथवा हमीं अहिंसा के द्वारा वे परिणाम प्राप्त कर लेंगे, जिनके लिए कम्युनिस्टों को हिंसा, पाप, मार-काट, तानाशाही, दलन, बंधन और अत्याचार का सहारा लेना पड़ता है। विनोबाजी और जयप्रकाशजी जो वैचारिक आन्दोलन चला रहे हैं, उसका नाम साम्यवाद नहीं, प्रत्युत्, साम्य-योग है, सिंथेसिस थ्रू इक्वेलिटी है।"

लंदन से उड़कर हम जिनेवा आये। जिनेवा, सही अर्थों में, अंतर्राष्ट्रीय शहर है। जिनेवा शहर की आबादी केवल एक लाख है जिसमें से आधे लोग, प्रायः, विदेशी होंगे। पूरे स्वीजरलैंड देश में चालीस लाख लोग बसते हैं जितने लोग अकेले काश्मीर में होंगे। मगर, यह देश अत्यन्त समृद्ध है। विश्व की अन्तर्राष्ट्रीय राजधानी होने के कारण सभी देशों का धन बहकर इस देश में पहुँच जाता है। अब स्वीजरलैंड के बाद वह चाहे जहाँ जाय। इस देश का प्रत्येक वयस्क व्यक्ति बैंक एकाउण्ट रखता है। हमारे दूतावास के एक अफसर ने कहा कि भारत चाहे तो यहाँ से जितना भी कर्ज ले सकता है।

स्वीजरलैंड की स्थायी सेना बहुत थोड़ी है। लेकिन, यहाँ के हर व्यक्ति के पास बन्दूक और कारतूस हैं और प्रतिवर्ष उसे सैनिक शिक्षा दी जाती है। केवल तीन घण्टे की नोटिस पर वहाँ पच्चीस लाख की सेना खड़ी की जा सकती है। कहते हैं, इसी भय से लड़ाई के समय हिटलर ने स्वीजरलैंड की की ओर कदम नहीं बढ़ाये। कदम बढ़ाता तो लोग डटकर

उसका सामना करते। युद्ध के समय यह देश तटस्थ था और तटस्थ होने के कारण ही यह देश-देश के जासूसों का अड्डा भी बना हुआ था। प्रायः, सारे के सारे अन्तर्राष्ट्रीय षडयंत्र यहीं सोचे और गढ़े जाते थे।

जिनेवा शहर लेमा झील के किनारे बसा हुआ है। झील की एक तरफ फ्रांस शुरू हो जाता है। इस झील का पानी निर्मल सुनील रंग का है। हमारे दूतावास के अध्यक्ष श्री पद्मनाभन का घर भी झील के ही तट पर है। वैसे तो सारा यूरोप होटलों का देश है, किन्तु, जिनेवा तो खासकर होटलों का ही शहर है।

जिनेवा में हम विश्व पार्लियामेंटरी सम्मेलन के महामंत्री श्री आन्द्रे बोन से मिलने गये। वे उसके ठीक एक दिन पूर्व भारत से जिनेवा लौटे थे। उन्होंने हमारे देश की भूरि-भूरि प्रशंसा की और कई चित्र दिखलाये, जिन्हें वे भारत से अपने साथ ले गये थे। उन्होंने राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद से अपनी भेंट का जिक्र किया और वे बोले, "आपके प्रेसि-डेंट अत्यन्त विनम्र व्यक्ति हैं। उनकी विनम्रता उनकी आकृति पर स्पष्ट अंकित रहती है। किन्तु, जब मैं उनसे हाथ मिला रहा था, मुझे भासित हुआ कि उनकी विनम्रता के भीतर से कोई अप्रतिम महत्ता मुझे झाँक रही हो। मैंने अनेक महापुरुषों से हाथ मिलाये हैं, किन्तु, डाक्टर प्रसाद से हाथ मिलाने की बात तो मैं कभी भूल ही नहीं सकता।" मैंने इस पर श्री बोन को धन्यवाद दिया और कहा कि आपके इस

निश्छल संस्मरण का आख्यान मैं अपने देशवासियों से अवश्य करूँगा।

जिनेवा से हम तीन-चार दिन के लिए ट्रेन से पेरिस चले गये और वहाँ से फिर जिनेवा लौट आये। पेरिस की मस्ती, रंगीनी और बेफिक्री की कहानी सारी दुनिया में मशहूर है। बारह महीने तीस दिन पेरिस में यात्रियों का ताँता लगा रहता है। मेरा ख्याल है, वहाँ नगर में बेफिक्री का जो समाँ है, वह इन्हीं यात्रियों के आधिक्य के कारण। पेरिस में कार्यव्यस्तता और परीशानी का दौर नहीं दिखायी दिया। जिसे भी देखो, घूम रहा है, मजे ले रहा है, आनन्द की खोज में मँडरा रहा है। लंदन में ठीक इसके विपरीत वातावरण है। लंदन में कलकत्ते की तरह भाग-दौड़ है। पेरिस में लोग काशी की तरह निर्द्वन्द्व घूमते हैं। लंदन कारखाना है, पेरिस को कला का म्युजियम कहना चाहिए। लंदन के होटलों में कामकाजू आदमी ज्यादा आते हैं। पेरिस के होटलों में हमने चित्रकारों को काम करते और लेखकों को कुछ लिखते-पढ़ते भी देखा।

पेरिस की एक विचित्रता यह भी देखी कि दिन में बाजार और सड़कें हलकी रहती हैं, किन्तु, संध्या होते ही सड़क पर जिन्दगी दौड़ने लगती है और रात ज्यों-ज्यों भींगती है, मोटरों की भाग-दौड़ में वृद्धि होती ही जाती है। मुझे बार-बार लगता कि रात में भीड़ लगानेवाले लोग पेरिस के नहीं होंगे, उनका बहुत बड़ा अंश विदेशी रहता होगा। किन्तु, इस विषय में मैं कोई पक्की राय नहीं बना सका। मेरा ख्याल है, पेरिस

में और नगरों की अपेक्षा 'नाइट क्लब्स' भी कुछ अधिक होंगे, अन्यथा रात में सड़कों के व्यस्त होने का कोई खास कारण नहीं दीखता। यूरोप में आनन्द लेना लोग खूब जानते हैं और पेरिस आनन्द का केन्द्र है। दिन में तो यात्री लुब्र (चित्रगार), गिमे म्युजियम, इफेल टावर, पैलेस द वर्सेल्स, आदि दर्शनीय स्थानों में घूमते रहते हैं, किन्तु, रात होते ही सब-के-सब साँजे-लिज़े पहुँच जाते हैं। कलकत्ते में जो स्थान चौरंगी का और लंदन में पिकेडली सरकस का है, पेरिस में वही स्थान साँजे-लिज़े का मानना चाहिए। फर्क केवल यह है कि चौरंगी और पिकेडली सरकस साँजे-लिज़े की तुलना में बहुत हीन हैं। साँज़े-लिज़े का अर्थ, सुना है, स्वर्ग की गली होता है और साँजे-लिज़े में, सचमुच ही, होटलों के बाहर और भीतर स्वर्ग लोटता है।

पेरिस से जिनेवा लौटते समय पेरिस स्टेशन पर काफी कष्ट हुआ। कारण यह था कि स्टेशन के कर्मचारी अंगरेजी नहीं जानते थे और जिस यात्री से भी बात की, पता चला कि अंगरेजी का ज्ञाता कोई नहीं है। केवल इशारों और सकेतों के द्वारा हम ट्रेन में सवार हुए और बड़ी मुश्किल से जिनेवा वापस आये।

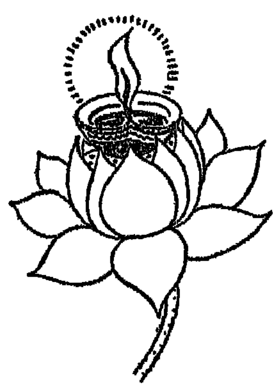
ट्रेन में दो-एक घण्टा खड़ा रहने के बाद मुझे एक महिला के पार्श्व में जगह मिली। ईश्वर की असीम अनुकम्पा का बोध तब हुआ जब मैंने देखा कि वे अंगरेजी बोल सकती हैं। मुझे तो ऐसा भान हुआ कि समुद्र में अचानक कोई टापू मिल गया हो। मैं उनसे बातें करने लगा और उनका दो साल का बच्चा

मुझसे ऐसा हिल गया कि वह मुझे छोड़कर कहीं जाता ही नहीं। मैंने बच्चे की माँ से पूछा कि यह क्या बात है। वे बोलीं कि "इसके पिता भी काले हैं।" मैंने पूछा, "क्या आपके पति एशियाई हैं ?" उन्होंने बताया, "नहीं, हैं तो फ्रेंच ही, मगर, मेरे समान गौर नहीं हैं।" मन ही मन मुझे हँसी आ गयी कि भारत में गौर समझी जानेवाली चमड़ी भी यूरोप में काली ही समझी जाती है।

पोलैंड में देखा कि अखबार वहाँ आकार में छोटे होते हैं और उनके पन्ने भी दो-चार ही होते हैं। किन्तु, पश्चिमी यूरोप में अखबारों का आकार-प्रकार बड़ा होता है एवं उनमें पन्ने भी अधिक होते हैं। मगर, इन पन्नों में रहता क्या है ? जो अखबार अधिक बिकते हैं, जिनकी प्रतियाँ मैंने ट्रेनों, सुरंग-ट्रेनों और वायुयानों में सबसे अधिक देखीं, उनमें कुत्सा और कलंक की कहानियाँ ही ज्यादा छपती हैं। किसी मोटर ड्राइवर और उसकी पत्नी ने मिलकर किसी को धोखा दिया था और, परिणामतः, दोनों गिरफ्तार हो गये थे। जिस दिन वे रिहा हुए, उनकी कहानी एक अखबार के मुख-पृष्ठ पर बड़ी ही शान से प्रकाशित देखी। अपने देश में तो ऐसे समाचार पत्रों में स्थान भी मुश्किल से पाते हैं, और इस मामले में मैं भारतीय पत्रकारों की रुचि को ही श्रेष्ठ मानता हूँ।

नाइट क्लबों के सामने नंगे या अधनंगे चित्र, अखबारों में कलंक और व्यभिचार की उत्तेजक कहानियाँ एवं बुकस्टालों पर भद्दी किताबें और नंगे चित्रों का व्यापार, इन सब से कोई

बात निकलती है। विज्ञान की सुविधाओं ने यूरोप में आदमी को बहुत कुछ स्वतंत्र कर दिया है, किन्तु, आदमी वहाँ यह जानता ही नहीं कि अवकाश का समय कैसे गुजारना चाहिए। स्थूल आनन्द भोगते-भोगते वह इस धरातल पर आ गया है कि आनन्द का स्वाद लेने को भी उसे आघात चाहिए। यही आघात लोगों को जुर्म और व्यभिचार की कहानियों से प्राप्त होता है जिन्हें वे बड़े ही चाव से पढ़ते हैं। सुर्रियलिस्ट चित्रकार, अपने ढंग पर, मनुष्य को यही आघात देते हैं और इसी आघात की सामग्री वहाँ के नाइट क्लबों में भी मौजूद है।



अरब के वर्त्तमान बृहस्पति

डाक्टर तहा हुसैन

पोलैंड में जितने दिन रहा, कुछ-न-कुछ साहित्यिक कार्य-क्रम चलता रहा, जिससे तबीयत नहीं ऊबी। इंग्लैंड में भी लंदन की 'हिन्दी-साहित्य-परिषद्' और 'बी० बी० सी०' की भारतीय शाखा के चलते यात्रा यत्किंचित् साहित्य के रस से सिक्त रही; किन्तु, स्वीजरलैंड और फ्रांस में साहित्य-समागम का कोई सुयोग नहीं निकला, जिसका परिणाम यह हुआ कि यात्रा भारी लगने लगी। म्यूजियमों और चित्रा-गारों में तो मन रमता था; किन्तु, सड़कों, दूकानों और होटलों को देखकर तृप्ति नहीं होती। आत्मा बराबर संकेत करती रहती कि क्यों अपना समय व्यर्थ गँवा रहा है? ये चीजें कल-कत्ते, बम्बई और दिल्ली में भी हैं। साहित्य के सिवा कौन वातायन है जिससे तू यूरोपवासी बंधुओं को समझ सकता है? किन्तु साहित्य का वातायन मेरे लिए बन्द था और ऐसा भासित हुआ कि इटली में भी वह बन्द ही रहेगा। अतएव, मैंने इटली की यात्रा स्थगित कर दी और जिनेवा से उड़कर सीधे काहिरा पहुँच गया।

काहिरा में मैं वहाँ के प्रसिद्ध नाटककार मिस्टर अजीज अबाजा पाशा का अतिथि हुआ। वारसा के अंतर्राष्ट्रीय

सम्मेलन में उनसे अच्छी जान-पहचान हो गयी थी और उन्हीं का यह आग्रह था कि लौटती बार मैं काहिरा अवश्य रुकूँ। मिस्टर पाशा ने बड़ी खातिरदारी की। मुझे नील-तट पर स्थित 'जजीरा पैलेस' नामक राजसी होटल में ठहराया और स्थानीय साहित्यिकों से अच्छी भेंट भी करा दी। इन साहित्यिकों में से दो सज्जनों का मुझ पर अच्छा प्रभाव पड़ा। एक थे डाक्टर हिकेल पाशा, जिन्होंने कई नाटक और हजरत मुहम्मद की जीवनी लिखी है और दूसरे थे डाक्टर तहा हुसैन, जो आँख से अंधे हैं, किन्तु, जिनके भीतर ज्ञान का सूर्य अपनी सोलहों कलाओं के साथ चमकता है।

डाक्टर तहा हुसैन अंगरेजी नहीं जानते; किन्तु, लातीनी और फ्रेंच भाषाओं पर उनका पूरा अधिकार है तथा अरबी के तो वे उद्‌भट विद्वान हैं ही। बातें उनसे दुभाषिये के माध्यम से हुईं जब कि काहिरा के सभी प्रसिद्ध साहित्यकार गोष्ठी में उपस्थित थे। 'विद्या ददाति विनयम्' की कहावत हम रोज सुनते हैं, किन्तु, उसकी सचाई तभी प्रकट होती है, जब हमारी किसी सच्चे विद्वान से भेंट होती है। विद्या और संस्कृति, दोनों की असली पहचान नम्रता है और डाक्टर तहा हुसैन नम्रता की मूर्ति हैं।

गोष्ठी में सारे-के-सारे लोग अरब के थे, इसलिए, सबकी दिलचस्पी को ध्यान में रखते हुए मैंने यह विषय छेड़ा कि भारतीय संस्कृति पर अरब के क्या-क्या प्रभाव हैं। इस सिलसिले में, मैंने भारतीय ज्योतिष पर अरबी प्रभाव की चर्चा

की और यह भी बताया कि बाद में कैसे अरब का तसव्वुफ भारत पहुँचा तथा हिन्दी के दो महाकवियों—जायसी और कबीर—में वह किस प्रकार अभिव्यक्त हुआ है।

किन्तु, डाक्टर हुसैन ने मुझे आगे बढ़ने नहीं दिया। वे कहने लगे—'आप जो कहते हैं, वह एक हद तक ठीक है। किन्तु, हमें यह भी याद रखना चाहिए कि पठानों के भारत जाने के पहले भारत ने इस्लाम को अरब में ही प्रभावित करना आरम्भ कर दिया था। जो तसव्वुफ कबीर में मिलता है, उसका मूल उपनिषदों में है और जब यह तसव्वुफ अरब में उत्पन्न हुआ, उसके पूर्व अरबी दुनिया पर उपनिषदों का प्रभाव पड़ चुका था। असल में, इस्लामी तसव्वुफ के जन्म के पीछे भारतीय विचारों का बहुत बड़ा हाथ था। और, अरब ने भारत से केवल रहस्यवाद के ही बीज नहीं लिये, बल्कि, गणित, अंक, वैद्यक आदि की भी बहुत-सी बातें अरब में भारत से आयीं और यहाँ उनका यूनानी विद्याओं से मेल हुआ।"

मैंने बात को फिर से रहस्यवाद की दिशा में मोड़ना चाहा और निवेदन किया कि कबीर और जायसी की परम्परा भारत में फिर से जीवित हुई है, जिसके सबसे आधुनिक व्याख्याता रवीन्द्रनाथ ठाकुर और इकबाल हुए हैं। डाक्टर हुसैन बोले—"सो ठीक है, किन्तु, इकबाल रहस्यवादी तब हुए, जब ईरान ने उन्हें ठुकरा दिया।"

इस वाक्य में क्या व्यंग्य था, यह मेरी समझ में नहीं आया। क्या डाक्टर हुसैन रहस्यवाद की हँसी उड़ाना चाहते

थे अथवा उनका भाव यह था कि इकबाल ने भारतीय होकर फारसी में कविताएँ क्यों लिखीं? वे पूरी तरह खुले नहीं। उस दिन के वार्तालाप के मैंने जो 'नोट' लिये थे, उनसे पता चलता है कि डा० हुसैन रहस्यवाद के फेर में पड़कर विज्ञान की उपेक्षा करने के विरोधी हैं; क्योंकि उन्होंने कहा—"यूरोप में रहस्यवाद के पतन का कारण विज्ञान का उत्थान था; किन्तु, ईरान से रहस्यवाद बिना विज्ञान के आये ही विदा हो गया।"

इसी सिलसिले में उन्होंने बताया कि अरबी तसव्वुफ पर भारत का प्रभाव ईरान होकर पड़ा था और इसी माध्यम से भारत ने यूनान के दर्शन को भी प्रभावित किया था, यद्यपि यूनान के प्रभावित होने के कारण कुछ और भी रहे होंगे; क्योंकि यूनान और भारत, दोनों का एक समय सीधा सम्पर्क भी था।

डाक्टर हुसैन मानते हैं कि केवल प्राचीन काल में ही नहीं, अपितु, वर्तमान युग में भी भारत के प्राचीन विचार नवीन विश्व को प्रभावित करते रहे हैं और इस सिलसिले में उन्होंने जर्मन दार्शनिक शापेनहार एवं जर्मन कवि शीलर और हाइने की विशेष रूप से चर्चा की। ये बातें मेरे लिए नयी नहीं थीं; किन्तु, यह सोचकर डाक्टर हुसैन पर मेरी श्रद्धा बहुत बढ़ गयी कि मैं यदि अपने देश की देन की बातें जानता हूँ तो इसमें बड़ाई की बात नहीं है; किन्तु, डाक्टर हुसैन कितने भावुक और जिज्ञासु हैं कि समस्त विश्व के विचारों में तारतम्य खोजते रहते हैं और वे कितने उदार हैं कि भारत के व्यापक सांस्कृतिक प्रभाव को मुक्त कंठ से स्वीकार करने में उन्हें कोई हिचकिचाहट

नहीं होती। काश! यह भाव अपने देश के विद्वानों में भी होता!

यहाँ से हमारी बातें आध्यात्मिकता बनाम आधिभौतिकता की ओर मुड़ीं। मैंने निवेदन किया कि नवीन भारत ने महात्मा गाँधी के मुख से जो संदेश दिया है, वह यह है कि मनुष्य को अपनी आवश्यकताएँ घटानी चाहिए, जब कि विज्ञान का प्रभाव उन्हें बढ़ाने की ओर है। गाँधीजी के अनुसार, शरीर की सार्थकता यह है कि वह आत्मा की अभिव्यक्ति का उपयुक्त साधन बने; किन्तु, विज्ञान आत्मा की बात नहीं समझता।

डाक्टर हुसैन के मुख पर हलकी मुस्कराहट दौड़ गयी। फिर वे गम्भीर हो गये और बोले—"आत्मावालों को अपनी राह नहीं छोड़नी चाहिए। किन्तु, विज्ञान का बहिष्कार सम्भव नहीं है। दोनों के बीच कहीं-न-कहीं समझौता करना होगा। जैसे आप शरीर को आत्मा की अभिव्यक्ति का साधन बनाना चाहते हैं, वैसे क्या विज्ञान धर्म का साधन नहीं बनाया जा सकता? आत्मा का त्याग करने पर कविता की वह महिमा नहीं रहेगी, जो पहले के युगों में थी और आदमी का स्वभाव है कि वह कविता चाहता है। आप तो स्वयं कवि हैं। मेरा क्या आशय है, इसे आप समझ सकते हैं। आत्मा और शरीर के संघर्ष में आत्मा बराबर जीतती जायेगी। आदमी चाहे जितनी भी दौड़ लगावे, अंततः, वह आत्मा पर आकर टिकेगा।"

बोलते-बोलते डाक्टर हुसैन की स्मृति व्यापक हो उठी—"महात्मा गाँधी के विचार निःसंग नहीं हैं। उनकी चिन्ता-धारा के समान लहरें समस्त विश्व में उठ रही हैं।" इसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने कई लेखकों और कवियों के नाम गिनाये। इस सिलसिले में उन्होंने हक्सले की दो पुस्तकों 'एप ऐंड एसेंस' तथा 'एंड्स ऐंड मीन्स' का उल्लेख किया तथा कवियों में ईलियट और क्लादल के नाम लिये। क्लादल का नाम मैंने नहीं सुना था। डाक्टर हुसैन ने ही बतलाया कि यह कवि चीन में फ्रांस का राजदूत था और वहीं रहकर उसने पूर्वी जगत् के अध्यात्मवाद से प्रेरणा ग्रहण की थी।

प्रसंगवश, याद आता है (और डाक्टर हुसैन से बातचीत करते समय भी यह बात याद आयी थी) कि डाक्टर हिकेल पाशा ने भी कुछ ऐसे ही विचार मेरे साथ बात करते समय व्यक्त किये थे—"कम्युनिज्म अभी बढ़ेगा; क्योंकि सभी देशों में भीड़ की मनोवृत्तिवाले लोगों को यह आदर्श अच्छा लगता है। जो लोग कम्युनिज्मके विरोधी हैं वे, संस्कारतः, ऊँचे और बारीक लोग हैं, किन्तु, वे अल्प संख्या में हैं। उनकी बारीकी जनता की पकड़ में नहीं आ रही है। लेकिन, आइक, टीटो या बुल्गानिन चीजों को संभाल नहीं सकेंगे। वे जनता को लाचार करते हैं कि बंधी-बँधायी एक राह पर चलो और जनता चलती भी है। लेकिन, उसकी चाल में बारीकी या खूबसूरती नहीं है। इतिहास में 'डिक्टेटर' होते ही आये हैं; मगर, उन्होंने दैहिक उत्थान ही दिया। आत्मा का प्रसार तो प्रजातंत्र से होता है—

व्यक्ति को इज्जत देने से होता है। इसलिए, अंत में प्रजासत्ता ही ठहरेगी। जरूरत ऐसे लोगों की है, जो हार मानकर झुंड में न जा मिलें, जो अडिग रहकर आत्मा की बात बोलते जायँ, क्योंकि यह कमजोर आवाज ही दुनिया की असली उम्मीद है।"

डाक्टर तहा हुसैन से और भी बातें हुईं। उन्होंने कहा—"अरबी के सबसे बड़े कवि अबुल अरा हुए हैं। उन पर भारतीय विचारों का पूरा प्रभाव था। उन्होंने अपनी वसीयत में लिखा था कि मरने के बाद मुझे गाड़ना नहीं, चिता पर जलाकर खाक कर देना।"

यहाँ मुझे खलील जिब्रान की याद आयी। मैंने जानना चाहा कि जिब्रान के साहित्य को डाक्टर हुसैन कैसा समझते हैं। किन्तु, इस प्रश्न का उन्होंने उत्तर नहीं दिया। मैंने मिस्टर अबाजा की ओर दृष्टिपात किया। वे बोले—"जिब्रान को हम लोग अरबी का श्रेष्ठ लेखक नहीं मानते। उन्हें भाषा पर अधिकार तो क्या, उसका सम्यक् ज्ञान भी नहीं था! हाँ, लेबनान में लड़के उनकी कविताएँ खूब चाव से पढ़ते हैं।"

मैं आसमान से गिरा। फिर सोचने लगा कि कविता का असली मजा उसकी भाषा में है। हमने जिब्रान की चीजें अंगरेजी में पढ़ी हैं। और 'प्राफेट', जो जिब्रान की सर्वश्रेष्ठ कृति है, उसे उन्होंने मौलिक रूप से अंगरेजी में ही लिखा था।

डाक्टर हुसैन विद्वान् तो अगाध हैं; किन्तु, उनका साहित्यिक सुयश, प्रधानतः, उनकी आत्मकथा को लेकर है, जिसका नाम 'ऐय्याम' है। इस पुस्तक का अंगरेजी अनुवाद दो जिल्दों में

निकला है। मिस्टर अबाजा ने मुझे बताया कि डाक्टर हुसैन का नाम अगले वर्ष के 'नोबेल-पुरस्कार' के लिए विचाराधीन है। इस पर मैंने, स्वभावत:, हर्ष और शुभकामना प्रकट की, जिस पर डाक्टर हुसैन हँसते हुए बोल उठे—"किन्तु, यह मत भूलियेगा कि अभी तक पूर्वी विश्व में साहित्य पर 'नोबेल-पुरस्कार' रवीन्द्रनाथ ठाकुर को छोड़कर और किसी को नहीं मिला है!"